नई दिल्ली
रविवार, 24 मई, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-31 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril: Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

सुप्रीम कोर्ट की दो खंडपीठें अपने गिरेबां में झांकते हुए अपने भटकाव को दुरुस्त कर रहीं 3
महिला सुरक्षा में आंकड़ों के पीछे की बाजीगरी 4

झीनी-बीनी चदरिया 8

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

आग से खेलने वाले ये नए श्रम कानून

मोदी सरकार के नए श्रम कानून शोषण को कानूनी वैधता का जामा पहनाकर देश को आंतरिक विद्रोह की ओर धकेल रहे

गुरदीप सिंह सप्पल

भारत के किसी भी बड़े एयरपोर्ट पर गौर कीजिएगा। जहां कभी सिक्योरिटी और स्क्रीनिंग पोस्ट पर सीआईएसएफ के लोग होते थे, अब उनमें से कई ड्यूटी निजी ठेकेदार के लोग कर रहे हैं। उनसे पूछिए कि वे हर महीने कितने पैसे घर ले जाते हैं। आपको शायद ही कभी 25,000 रुपये से ज्यादा सुनने को मिले, और अक्सर यह रकम 15,000 रुपये के आसपास ही होगी। हो सकता है कि कागज पर उनकी सैलरी ज्यादा हो, लेकिन उन्हें तैनात करने वाली आउटसोर्सिंग एजेंसियों का अपना हिसाब-किताब होता है, और हर तरह की कटौतियों की मार इन कर्मचारियों पर ही पड़ती है।

अगर देश की सबसे ज्यादा नजर में आने वाली सार्वजनिक जगहों में से एक की हकीकत यह है, तो सोचिए किसी छोटे शहर या आपके आस-पास के इंडस्ट्रियल एस्टेट की किसी मामूली फैक्ट्री में काम करने वाले किसी ब्लू-कॉलर वर्कर की हालत क्या होगी। इन्हीं कामगारों को सुरक्षा की सबसे ज्यादा जरूरत थी, लेकिन नरेन्द्र मोदी सरकार के चार नए श्रम कानूनों ने इन्हें ही सबसे ज्यादा असुरक्षित बना दिया है। नवंबर 2025 में लागू हुए नए श्रम कानूनों के लिए केन्द्र सरकार के नियम इसी महीने (8-9 मई को) अधिसूचित किए गए। यह कोई सरलीकरण नहीं, यह सुधार के बाने में शोषण को वैध बनाना है।

29 श्रम कानूनों को चार कानूनों में एक साथ लाने को बड़ी कामयाबी के तौर पर पेश किया जा रहा है। लेकिन सच्चाई यह है कि एक-दूसरे में उलझे इन कानूनों ने असल में नियमों का पालन करने का बोझ खासकर छोटे बिजनेस पर डाल दिया है। इनमें से कुछ बदलाव- जैसे न्यूनतम वेतन, गिग वर्कर्स को औपचारिक पहचान, अनिवार्य नियुक्ति पत्र- अच्छे हैं लेकिन सुधारों को बताए गए इरादों से नहीं, बल्कि उनकी संरचना से आंका जाना चाहिए- और ये कोड बुनियादी तौर पर पूंजी और कॉरपोरेट हितों की तरफ झुके हैं।

श्रम सुधारों के निष्पक्ष अध्ययन में उदारीकरण के बाद के तीन दशकों के अनुभवों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। 1990 के दशक के श्रम कानूनों से जुड़े बदलाव इस समझ पर आधारित थे कि श्रमिकों के पक्ष में कड़े नियमों के कारण पंजीकृत विनिर्माण में निवेश, रोजगार और उत्पादकता में कमी आई है। यह अच्छी तरह दस्तावेजीकृत पैटर्न था, जिसे 1958 और 1992 के बीच औद्योगिक विवाद अधिनियम के संशोधनों के बेस्ली-बर्गेस विश्लेषण के जरिये दिखाया गया था। यही शोध तब के सुधारों का बौद्धिक आधार बना।

लेकिन अगले 30 सालों में अनौपचारिक क्षेत्र का विस्तार हुआ। मजदूरी स्थिर रही, जबकि कॉरपोरेट मुनाफा तेजी से बढ़ा। इससे यह सबक मिला कि मजदूरों की सुरक्षा के उपाय अपने आप में उद्योग के लिए बुरे नहीं होते। बल्कि, यह खराब ढंग से बनाए गए और असंगत तरीके से लागू किए गए नियम-कानून होते हैं, जो गलत तरह के प्रोत्साहन पैदा करते हैं।

दूरगामी बदलाव

नए श्रम कानून की पोल-पट्टी खोलने वाला नियम है छंटनी सीमा को 100 कामगारों की सीमा से बढ़ाकर 300 कर देना। पुराने औद्योगिक विवाद अधिनियम के तहत, 100 या उससे ज्यादा वर्कर वाली किसी भी कंपनी को छंटनी, लेऑफ या बंद करने से पहले सरकारी मंजूरी लेनी होती थी। 300 की नई सीमा का मतलब है कि भारत की 80 फीसद से ज्यादा मैन्युफैक्चरिंग कंपनियां अब बिना किसी सरकारी निगरानी के लोगों को नौकरी से निकाल सकती हैं। वर्कर के लिए न कोई जवाबदेही, न सुरक्षा।

कानूनों के मुताबिक, हड़ताल से पहले मजदूरों को 60 दिन का नोटिस और 14 दिन का कूलिंग-ऑफ पीरियड भी देना होगा। यह उनके किसी भी अचानक ऐक्शन का अधिकार छीनता है। इसके अलावा, किसी भी मजदूर यूनियन को औपचारिक मान्यता पाने के लिए अब 51 फीसद सदस्यता होनी चाहिए, यह ऐसी सीमा है जो छोटी यूनियनों को हाशिये पर धकेलती है और अलग-अलग मजदूर समूहों के लिए प्रतिनिधित्व को कम करती है। काम के घंटे, छुट्टी और नौकरी से निकालने के नियम 300 से कम मजदूरों वाली जगहों पर लागू नहीं होंगे, जिससे भारत के ज्यादातर औद्योगिक इलाके इसके दायरे से बाहर हो जाएंगे।

छोटी फैक्ट्रियों में काम करने वाले मजदूर सबसे ज्यादा असुरक्षित होंगे, क्योंकि इंडस्ट्रियल यूनिट तभी 'फैक्ट्री' कहलाएगी जब उसमें न्यूनतम 20 (बिजली वाली यूनिट के लिए) और 40 या उससे ज्यादा (बिना बिजली वाली यूनिट के लिए) कामगार होंगे। वेतन से जुड़े अपराधों को अब शुल्क देकर निपटाया जा सकता है, जिससे ऐसे अपराधों को बढ़ावा मिलेगा क्योंकि इसके उल्लंघन को देय शुल्क के बरक्स तौला जाएगा।

उपेक्षित मुद्दे

नए कानून ऐसे समय अधिसूचित किए गए हैं जब श्रम बाजार पहले से ही गहरे संकट में है। ग्रामीण भारत में वास्तविक मजदूरी 2014 से लगभग जीरो फीसद बढ़ी है। सरकार के ही आवधिक श्रम बल सर्वे के मुताबिक, नियमित मेहनताना वित्त वर्ष 22 और 24 के बीच घटा जबकि जीडीपी 6.7 फीसद की दर से बढ़ी। एक ओर तो सैलरी और मजदूरी स्थिर रहीं (भारत के लगभग 57 फीसद ब्लू-कॉलर वर्कर हर महीने 20,000 रुपये से कम कमाते हैं), दूसरी ओर 2020 और 2024 के बीच निफ्टी 500 कंपनियों का मुनाफा 34.5 फीसद की दर से बढ़ा।

उत्पादकता मापने के लिए आईएलओ से मान्यता प्राप्त केएलईएमएस फ्रेमवर्क में पूंजी, श्रम, बिजली, सामग्री, और सेवा को आउटपुट तय करने वाले कारक माना गया है। इसके लिए जरूरी है कि श्रम को सिर्फ मात्रात्मक तरीके से नहीं, बल्कि गुणवत्ता यानी शिक्षा, हुनर, कार्य प्रोफाइल के लिहाज से भी मापा जाए । इस फ्रेमवर्क में, एक ऐसी अर्थव्यवस्था जो श्रम को सस्ता करती है, वह अलग-अलग फर्मों के लिए अल्पकालिक लागत लाभ पैदा कर सकती है, लेकिन हुनर और मांग कम होने से उत्पादकता भी घटती है।

नए कानून इन बातों पर ध्यान नहीं देते। मोदी सरकार न तो श्वेत पत्र लेकर आई और न ही इस संबंध में कोई अन्य दस्तावेज ही जारी किया जो श्रम कानूनों, वेतन और उत्पादकता के परस्पर रिश्तों की समीक्षा करता। कोई पारदर्शी, सबूत आधारित नीतिगत विचार-विमर्श नहीं हुआ। जब सरकार का ही आर्थिक सर्वे 2024-25 कम रोजगार की बात मानता हो तो यह एक बड़ी विफलता बन जाती है।

आईटी, गिग वर्कर और अनिश्चितता

54 लाख कर्मचारी और सालाना 250 अरब डॉलर का निर्यात करने वाले भारत के आईटी सेक्टर में श्रम कानून न के बराबर हैं। पहले 2023 और फिर एआई की वजह से 2025-26 में बड़े पैमाने पर छंटनी हुई और इसमें सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं रहा। इस सेक्टर में कोई असरदार ट्रेड यूनियन नहीं है। नॉन-कम्पीट क्लॉज, 'वेरिएबल पे' और फौरन नौकरी से निकालने के नियम आम हैं। नए श्रम कानून इनमें से कुछ भी तो नहीं बदलते!

फोटो: गेटी इमेजेज

नए श्रम कोड ऐसे समय आए हैं जब श्रम बाजार गंभीर संकट में है और श्रमिक पूरे देश में आंदोलन कर रहे हैं

भारत की 1.2 करोड़ की विशाल 'गिग वर्कफोर्स' के 2030 तक बढ़कर 2.35 करोड़ तक पहुंचने का अंदाजा है। कानूनी तौर पर इसे औपचारिक मान्यता मिलना सकारात्मक कदम है, लेकिन एग्रीगेटरों द्वारा इस कार्य बल के लिए कल्याण कोष में अपने टर्नओवर का सिर्फ 1-2 फीसद योगदान करना और ऐसी दरें तय करना कि गुजारे भर कमाने के लिए 14-16 घंटे काम करना पड़े- चिंताजनक है। इसे 'सामाजिक सुरक्षा' नहीं कहा जा सकता, यह तो छलावा है।

इनसे जुड़े कानूनों के लाभ के लिए प्रस्तावित 90-दिन की पात्रता अवधि की वजह से लाखों वैसे लोग इससे बाहर रह जाएंगे जो कई प्लेटफॉर्म पर काम करते हैं या मौसमी कर्मचारी हैं। एल्गोरिद्मिक डी बोर्डिंग- जिसका मतलब है किसी कर्मचारी को बिना किसी सूचना या इंसानी समीक्षा के किसी ऐप से ब्लॉक कर देना और इसके लिए चारों संहिताओं में कहीं भी कोई कानूनी राहत नहीं है। ये संहिताएं खुदरा, वित्तीय सेवाओं, आतिथ्य और मीडिया जैसे क्षेत्रों में अनिश्चित 'व्हाइट-कॉलर' नौकरियों में कार्यरत बड़ी संख्या में कर्मचारियों की भी उपेक्षा करती हैं; जहां कर्मचारियों को बिना किसी ओवरटाइम के लंबे समय तक काम करना पड़ता है, और उन्हें मिलने वाला 'प्रदर्शन-आधारित' वेतन अक्सर उनके साथ हकमारी करता है। इन लोगों के पास अपनी बात रखने के लिए न तो कोई यूनियन है, और न ही उनके हितों की रक्षा के लिए कोई संस्थागत आवाज।

पहले सौ से ज्यादा वर्कर वाली कंपनी को छंटनी आदि से पूर्व सरकारी मंजूरी लेनी होती थी। तीन सौ की सीमा का मतलब है 80 फीसद से ज्यादा कंपनियां बिना सरकारी निगरानी के लोगों को नौकरी से निकाल सकती हैं

अंतर्निहित संदेश

इस बहस का एक ऐसा आयाम भी है जो अर्थशास्त्र से परे है। ऐतिहासिक रूप से मजदूर संगठन और छात्र आंदोलन भारत के लोकतांत्रिक नेतृत्व की पौधशाला रहे हैं। पिछले तीन दशकों में, इन दोनों को व्यवस्थित रूप से हाशिये पर धकेल दिया गया है। भारत के लोकतंत्र को फिर से स्वस्थ बनाने के लिए, इन संस्थाओं को पुनर्जीवित किया जाना चाहिए। भाजपा कभी भी इसका समर्थन नहीं करेगी। ठीक इसी वजह से कांग्रेस और विपक्ष को श्रम अधिकारों की बहाली के लिए लड़ना चाहिए- एक संवैधानिक अधिकार के रूप में, और एक वैकल्पिक राजनीतिक दृष्टिकोण के मुख्य केन्द्र के रूप में।

क्या बदलना जरूरी

कानूनों में आमूल-चूल बदलाव की जरूरत है। छंटनी की सीमा को वापस 100 कर्मचारियों पर लाना होगा, या फिर उसकी जगह अलग-अलग स्तरों वाली, लागू की जा सकने वाली सुरक्षा व्यवस्था लानी होगी। यूनियन को मान्यता देने के लिए 51 फीसद की सीमा को हटाकर उसकी जगह आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लानी होगी। 60 दिन पहले हड़ताल का नोटिस देने की शर्त को भी खत्म करना होगा; यह असंवैधानिक है।

अनूप सतपथी समिति की सिफारिश के अनुरूप, 2019 की कीमतों पर 375 रुपये प्रति दिन का एक सार्थक राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन, जो मुद्रास्फीति से समायोजित हो, लागू किया जाना चाहिए। एक एल्गोरिथम जवाबदेही अधिनियम के तहत प्लेटफार्मों को स्वचालित कार्य आवंटन, मूल्य निर्धारण और अनुशासनात्मक निर्णयों के पीछे के तर्क का खुलासा करना अनिवार्य होना चाहिए। एक सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा कोष हो जिसमें गिग काम, प्लेटफॉर्म काम, ठेके वाले काम और अनौपचारिक काम समेत सभी तरह के रोजगार शामिल हों। और किसी भी अन्य विधायी बदलाव से पहले, भारत में उत्पादकता अंतर के कारणों पर सार्वजनिक श्वेत पत्र तैयार करने के लिए एक स्वतंत्र राष्ट्रीय श्रम उत्पादकता आयोग का गठन किया जाना चाहिए।

नोएडा, सूरत, हल्द्वानी, मानेसर, गुरुग्राम, फरीदाबाद में हुए हालिया श्रमिक आंदोलन स्थानीय शिकायतें नहीं थीं; वे एक देशव्यापी विद्रोह के पूर्व संकेत (चेतावनी) थे। श्रमिक बता रहे थे कि उस स्थिति में हमें क्या उम्मीद करनी चाहिए जब एक दशक तक वेतन को स्थिर रखा जाता है, जब सुरक्षा कवच छीन लिए जाते हैं, और संगठित होने के अधिकार को व्यवस्थित रूप से कमजोर कर दिया जाता है। सरकार ने तब अनसुना कर दिया था। नए श्रम कानून संकेत दे रहे हैं कि अगर सरकार अब भी इस ओर ध्यान नहीं देती है, तो वह एक जन-विद्रोह के लिए जमीन तैयार कर रही है। ■

दोस्त, सहयोगी और कूटनीतिक स्वायत्तता का स्वांग

मोदी की चीन कूटनीति के लिए सच का सामना करने जैसी थी ट्रंप और शी की वार्ता

अशोक स्वैन

डॉनल्ड ट्रंप को 13-15 मई के अपने बीजिंग दौरे से जैसी उम्मीद रही होगी, हकीकत में वैसा कुछ नहीं हुआ। वह अमेरिका के पक्ष में कोई बड़ी डील तो नहीं ही कर सके, उल्टा अमेरिका-चीन के रिश्ते का कूटनीतिक असंतुलन जगजाहिर हो गया।

व्हाइट हाउस ने व्यापार, सुरक्षा और तकनीक के क्षेत्रों में बड़े नतीजों वाली बैठक की कल्पना की थी लेकिन ईरान के साथ चल रहे युद्ध ने शिखर सम्मेलन के समय और बैठक के मकसद, दोनों को बदल दिया। ट्रंप एलन मस्क (टेस्ला), टिम कुक (एप्पल) और जेन्सेन हुआंग (एनवीडिया) जैसे दिग्गजों समेत एक उच्चस्तरीय प्रतिनिधिमंडल के साथ बीजिंग तो गए लेकिन वह भू-राजनीतिक दखल, घरेलू राजनीतिक दबाव और चीनी मदद की बढ़ती जरूरत से घिरे थे।

बैठक में उन्हें ऐसी कोई बड़ी कामयाबी नहीं मिली जिसकी उन्होंने उम्मीद की होगी, बल्कि इससे कहीं ज्यादा अहम बात जाहिर हो गई- लोगों को पता चल गया कि ट्रंप के कार्यकाल में अमेरिका चीन के साथ किसी भी खुले टकराव के लिए बिल्कुल तैयार नहीं। इससे नई दिल्ली में नरेन्द्र मोदी के विदेश मामलों से जुड़े हलकों की पेशानी पर बल पड़ना चाहिए।

एक दशक से भी ज्यादा समय से, मोदी की विदेश नीति इस बुनियादी सोच पर टिकी है चीन की काट के तौर पर अमेरिका भारत को एक मजबूत ताकत के रूप में देखेगा और यह बात व्हाइट हाउस की रणनीति में भी झलकेगी। इसी सोच ने भारत के राजनयिक रुख, क्षेत्रीय तालमेल और सैन्य सहयोग समझौतों को आकार दिया। लेकिन ट्रंप-शी बैठक ने दिखा दिया है कि मोदी सरकार की यह सोच बेहद पिलपिली है।

ट्रंप इस उम्मीद के साथ बीजिंग गए थे कि शी तेहरान पर चीन के प्रभाव का इस्तेमाल करके ईरान संघर्ष का कूटनीतिक नतीजा निकालने में मदद कर सकते हैं, खासकर होर्मुज जलडमरूमध्य को फिर से खोलने और ऊर्जा बाजार में स्थिरता लाने के मामले में। चीन ने बोलने को तो स्थिरता का समर्थन किया, लेकिन उसने ऐसा कोई भी ठोस वादा नहीं किया। खुद के तैयार संकट से अमेरिका को बचाने में बीजिंग की कोई दिलचस्पी नहीं थी।

ईरान के मुद्दे पर बहुत कम समर्थन मिलने के बावजूद, ट्रंप जिनपिंग के प्रति आश्चर्यजनक रूप से विनम्र रहे। इस संकेत को नजरअंदाज करना मुश्किल था- गर्मजोशी भरी निजी तारीफ, शी को अमेरिका आने का न्योता और खुलेआम यह कहना कि दोनों देशों के रिश्तों को और मजबूत किया जा सकता है। इसके उलट, शी ने इस मौके का इस्तेमाल ताइवान के मुद्दे पर एक 'रेड लाइन' खींचने के लिए किया और ट्रंप को याद दिलाया कि चीन के लिए इसपर किसी भी तरह के समझौते की गुंजाइश नहीं है।

इस शिखर सम्मेलन से ऐसा कोई संकेत नहीं मिला कि अमेरिका चीन के साथ रणनीतिक टकराव के लिए तैयार है। लेन-देन को अहमियत देने वाला ट्रंप प्रशासन चीन से तालमेल बैठाने का हरसंभव प्रयास करता दिखा। यह बात भारत के नजरिये से अहम है क्योंकि मोदी ने पिछले 12 वर्षों में वैश्विक कूटनीति को ठीक इसके उलट समझते हुए अपने दांव चले।

2014 में सत्ता में आने के बाद से मोदी ने भारत के रणनीतिक भविष्य को वॉशिंगटन की चीन से जुड़ी चिंताओं के साथ कुछ ज्यादा ही जोड़ दिया है। क्वॉड (क्वाड्रिलैटरल सिक्योरिटी डायलॉग) भारत के 'इंडो-पैसिफिक' नजरिये का मुख्य केन्द्र बन गया। रक्षा समझौते कई गुना बढ़ गए। खुफिया सहयोग और गहरा हुआ। संयुक्त सैन्य अभ्यास का दायरा बढ़ा।

फोटो: गेटी इमेजेज

बीजिंग में टेंपल ऑफ हैवेन के सामने अमेरिकी राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप और चीनी राष्ट्रपति शी जिनपिंग

भारत को कभी भी चीन के लिए ऐसी रणनीति नहीं बनानी चाहिए थी जो किसी अमेरिकी राष्ट्रपति की सनक पर निर्भर हो। भारत की रणनीतिक स्वायत्तता को लेकर तमाम बड़े-बड़े दावों के बावजूद मोदी सरकार की विदेश नीति ने भारत के रणनीतिक लचीलेपन को ख़त्म कर दिया है

शेष पेज 2 पर ▸

क्या अन्नाद्रमुक का गढ़ पार्टी से मुंह मोड़ रहा है?

के. ए. शाजी

मई के तीसरे सप्ताह में एडप्पाडी के. पलानीस्वामी द्वारा दिया गया राजनीतिक संदेश संक्षिप्त, संयमित और स्पष्ट था। उन्होंने कहा कि अन्नाद्रमुक नेतृत्व की अवहेलना करते हुए जोसेफ विजय के नेतृत्व वाली टीवीके (तमिलगा वेट्री कजगम) सरकार के साथ गठबंधन करने वाले बागी विधायकों का बातचीत के लिए स्वागत है। उन्होंने कहा कि मतभेदों को आंतरिक रूप से सुलझाया जा सकता है - आंदोलन को टूटना नहीं चाहिए।

जयललिता के निधन के बाद अन्नाद्रमुक में हुए आंतरिक कलह में जीत हासिल करने के बाद पहली बार पलानीस्वामी पार्टी पर अपनी पकड़ बनाए रखने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। पूर्व मंत्रियों एस.पी. वेलुमणि और सी.वी. शनमुगम के नेतृत्व में हुए विद्रोह ने विधानसभा में पार्टी को विभाजित करने से कहीं अधिक नुकसान पहुंचाया है। अन्नाद्रमुक के लिए इससे भी ज्यादा खतरनाक बात यह है कि विद्रोह उसके राजनीतिक गढ़, पश्चिमी तमिलनाडु के कोंगू नाडु क्षेत्र में भड़का है, वही क्षेत्र जिसने जयललिता के निधन के बाद पार्टी को सहारा दिया और पलानीस्वामी के उदय को गति दी।

अन्नाद्रमुक के संस्थापक एम.जी. रामचंद्रन के 1987 में निधन के बाद से ही पार्टी उत्तराधिकार संघर्षों और पार्टीगत झगड़ों से जूझ रही है। चेन्नई स्थित राजनीतिक विश्लेषक सुसित्रा महेश्वरन का कहना है कि पार्टी पहले के संकटों से इसलिए बच पाई क्योंकि प्रतिद्वंद्वी गुटों को अलग-अलग राजनीतिक आधारों और सत्ता के अलग-अलग केन्द्रों से राजनीतिक समर्थन मिलता था। उन्होंने कहा, 'यह दरार उसी (पश्चिमी तमिलनाडु) नेतृत्व संरचना के भीतर है। यही कारण है कि यह संघर्ष पार्टी के लिए कहीं अधिक खतरनाक है।'

विजय के नेतृत्व वाली टीवीके सरकार के गठन के बाद विधानसभा में हुए विश्वास मत ने इस विद्रोह को जन्म दिया। पलानीस्वामी ने सभी अन्नाद्रमुक विधायकों को सरकार का विरोध करने का निर्देश दिया था। फिर भी, पार्टी के लगभग आधे विधायकों ने विजय के समर्थन में मतदान किया, जिससे आंतरिक असंतोष का व्यापक स्तर उजागर हो गया। यह विद्रोह इस बात का प्रमाण था कि पलानीस्वामी का दबदबा अब खत्म हो चुका है। यह वही हैं जिन्होंने कुछ ही साल पहले अपने प्रतिद्वंद्वियों - ओ. पन्नीरसेल्वम, वी.के. शशिकला और टी.टी.वी. दिनाकरन को सफलतापूर्वक परास्त किया था।

विधानसभा चुनाव में पार्टी के निराशाजनक प्रदर्शन के बाद यह विद्रोह आश्चर्यजनक नहीं है। पलानीस्वामी को द्रमुक का

पलानीस्वामी के लिए अन्नाद्रमुक को एकजुट रखना सबसे बड़ी चुनौती बन गया है

मुकाबला करने में सक्षम एक स्थिर प्रशासक के रूप में पेश करने के बावजूद पार्टी को भारी नुकसान उठाना पड़ा। विजय के नाटकीय उदय ने द्रमुक-विरोधी वोटों को विभाजित कर दिया, जिसे इस संकेत के रूप में भी देखा गया कि अन्नाद्रमुक बदलाव चाहने वाले युवा मतदाताओं को आकर्षित नहीं कर पाई। ईपीएस खेमे की प्रतिक्रिया शुरू में आक्रामक थी। वेलुमणि, सी.वी. शनमुगम और कई अन्य लोगों को उनके संगठनात्मक दायित्वों से हटा दिया गया, जिससे विद्रोह की नींव पड़ी। विजय के पक्ष में मतदान करने वाले और कथित तौर पर मंत्री पद की उम्मीद कर रहे कई बागी विधायक अब दो पक्षों के बीच फंसे हुए हैं और अपने विकल्पों का पुनर्मूल्यांकन कर रहे हैं।

टीवीके भी बागियों के साथ अपने संबंधों को लेकर बंटी हुई नजर आ रही है। पार्टी के कुछ सदस्य बागी अन्नाद्रमुक विधायकों को उपयोगी सहयोगी मानते हैं, जो न केवल पलानीस्वामी को अस्थिर करेंगे बल्कि पश्चिमी तमिलनाडु में टीवीके का प्रभाव भी बढ़ाएंगे। वहीं, अन्य लोगों को डर है कि भाजपा के प्रति नरम रुख रखने वाले नेताओं के साथ समझौता करने से टीवीके की छवि को नुकसान पहुंच सकता है। विजय सरकार की प्रमुख सहयोगी कांग्रेस ने निजी तौर पर सावधानी बरतने की सलाह दी है। खबरों के मुताबिक, वरिष्ठ

अन्नाद्रमुक के बागी गुट के कुछ हिस्से दिल्ली में भाजपा नेतृत्व के करीबी बताए जाते हैं, लेकिन विश्वास मत के दौरान उन्होंने रणनीतिक रूप से विजय का साथ देना चुना

कांग्रेस नेताओं को आशंका है कि अन्नाद्रमुक के बागी नेताओं को औपचारिक रूप से गले लगाने से भाजपा विरोधी विपक्षी खेमे में वैचारिक भ्रम पैदा हो सकता है और अल्पसंख्यक मतदाता उनसे दूर हो सकते हैं।

वेलुमनी का सार्वजनिक रुख संतुलित है। उन्होंने हाल ही में कहा कि 'हम बातचीत के लिए तैयार हैं। यह मुद्दा व्यक्तिगत नहीं है। हमें इस बात पर चर्चा करने की जरूरत है कि पार्टी का पतन क्यों हुआ है और सामूहिक नेतृत्व आंदोलन को कैसे मजबूत कर सकता है।' यह भाषा सुलहपूर्ण है, लेकिन संदेश पलनीस्वामी की नेतृत्व शैली के लिए एक चुनौती है।

विद्रोही गुट ईपीएस पर निर्णय लेने की प्रक्रिया को केन्द्रीकृत करने, वरिष्ठ नेताओं को दरकिनार करने और अन्नाद्रमुक को बदलती राजनीतिक वास्तविकताओं से पूरी तरह अलग, कड़े नियंत्रण वाले तंत्र में तब्दील करने का आरोप लगाता है। वेलुमणि से जुड़े नेताओं का तर्क है कि पलानीस्वामी के सत्ता पर कब्जा जमाने के बाद गठबंधन संबंधी निर्णय, चुनावी रणनीतियां और उम्मीदवारों का चयन एक बहुत ही सीमित नेतृत्व गुट में केन्द्रित हो गया था।

ईपीएस के साथ मजबूती से जुड़े रहने वाले अन्नाद्रमुक के वरिष्ठ नेता के.पी. मुनुसामी इस आलोचना को यह कहते हुए खारिज करते हैं कि 'अन्नाद्रमुक जैसा आंदोलन अनुशासन के बिना काम नहीं कर सकता। जनता के दबाव से फैसले नहीं लिए जा सकते।' फिर भी, इस विद्रोह का पैमाना गहरी चिंताओं की ओर इशारा करता है। विजय के उदय ने अन्नाद्रमुक के राजनीतिक समीकरणों को बदल दिया है। दशकों तक पार्टी ने द्रमुक विरोधी राजनीतिक क्षेत्र पर अपना दबदबा बनाए रखा, लेकिन अब वह न तो सरकार में है और न ही प्रमुख विपक्ष में। इससे पार्टी का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है।

युवा मतदाताओं, महिलाओं के कुछ वर्गों और राजनीति से निराश मध्य वर्ग के कुछ हिस्सों के बीच विजय की लोकप्रियता ने राज्य में काफी राजनीतिक अनिश्चितता पैदा कर दी है। अन्नाद्रमुक के कई दूसरे स्तर के नेताओं को डर है कि पलानीस्वामी के नेतृत्व में पार्टी के पास अगले राजनीतिक चक्र में टिके रहने के लिए भावनात्मक समर्थन की कमी है। ऐसे में विजय का समर्थन करना उनके लिए रणनीतिक राजनीतिक सुरक्षा कवच है।

बागी गुट के कुछ हिस्से दिल्ली में भाजपा नेतृत्व के करीबी बताए जाते हैं, लेकिन विश्वास मत के दौरान उन्होंने रणनीतिक रूप से विजय का साथ देना चुना। कोयंबटूर स्थित राजनीतिक विश्लेषक के. मोहनराज कहते हैं कि 'पुरानी द्रविड़ राजनीतिक संस्कृति में निष्ठाएं वैचारिक रूप से अधिक स्पष्ट और भावनात्मक रूप से आवेशित होती थीं। लेकिन अब राजनीति लेन-देन पर आधारित होती जा रही है। नेता खुद को ऐसे भविष्य के लिए तैयार कर रहे हैं जहां अन्नाद्रमुक शायद अब केन्द्रीय विपक्षी ताकत न रहे।'

अन्नाद्रमुक के दिग्गज नेताओं के भविष्य को लेकर बनी अनिश्चितता पार्टी के विखंडन का एक और प्रमाण है। ओ. पन्नीरसेल्वम को कभी जयललिता का वफादार उत्तराधिकारी माना जाता था, अब वह ईपीएस ढांचे से बाहर बहुत ही सीमित, लेकिन प्रतीकात्मक रूप से महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। शशिकला राजनीतिक रूप से अलग-थलग पड़ गई हैं, लेकिन अन्नाद्रमुक के पुराने कार्यकर्ताओं और मतदाताओं के बीच उनकी भावनात्मक पकड़ अब भी कायम है। संगठनात्मक रूप से प्रासंगिकता खोने के बावजूद, टी.टी.वी. दिनाकरन ए.एम.एम. के नेटवर्क के जरिये कुछ समर्थकों का समर्थन अब भी हासिल किए हुए हैं। माना जाता है कि वेलुमणि खेमे के कुछ वर्ग ए.आई.ए.डी.एम. एकता के नाम पर शशिकला और दिनाकरन के साथ चैनलों को फिर से शुरू करने के पक्ष में हैं - ई.पी.एस. के प्रभुत्व के चरम पर यह अकल्पनीय होता।

कोंगु नेता सेंगोत्तैयान - जो अब राज्य के वित्त मंत्री हैं- का नवंबर 2025 में अन्नाद्रमुक से टीवीके में शामिल होना राज्य की राजनीति में उथल-पुथल का एक प्रारंभिक संकेत था। यह संकेत था कि अन्नाद्रमुक के पुराने प्रतिष्ठान के कुछ वर्ग टीवीके द्वारा अपने गढ़ पर कब्जा करने को लेकर सतर्क थे।

युवा तमिलवासियों का एमजीआर और जयललिता से वह भावनात्मक जुड़ाव नहीं है जिसने दशकों तक अन्नाद्रमुक को कायम रखा। विजय के राजनीतिक उदय ने इस बदलाव को और भी तीव्र कर दिया है। सुसित्रा महेश्वरन कहती हैं कि 'अन्नाद्रमुक के लिए खतरा केवल संगठनात्मक विखंडन नहीं है। इससे भी बड़ा खतरा युवा मतदाताओं के बीच धीरे-धीरे राजनीतिक अप्रासंगिकता का बढ़ना है, जो अब पुरानी द्रविड़ निष्ठाओं को स्वतः ही नहीं अपनाते।'

भले ही भाजपा अभी तक राज्य में अपनी पकड़ मजबूत करने में कामयाब नहीं हुई है, लेकिन अन्नाद्रमुक की मौजूदा मुश्किलों में उसकी अहम भूमिका रही है। नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा ने अन्नाद्रमुक के कई प्रमुख केन्द्रों, जिनमें पलानीस्वामी, पन्नीरसेल्वम और शशिकला शामिल हैं, के साथ राज्य में अपनी पैठ बनाने की कोशिश की है। अन्नाद्रमुक में मौजूदा फूट और विजय के उदय ने भाजपा को सोचने पर मजबूर कर दिया है, हालांकि वह नई संभावनाओं पर पैनी नजर रखेगी। ■

कूटनीतिक स्वायत्तता का स्वांग

पेज एक का शेष

2016 में भारत ने अमेरिका के साथ लेमोआ (लॉजिस्टिक्स एक्सचेंज मेमोरैंडम ऑफ एग्रीमेंट) पर हस्ताक्षर किए, ताकि दोनों देश एक-दूसरे की सैन्य लॉजिस्टिक्स सुविधाओं का इस्तेमाल कर सकें।

यह महज तकनीकी व्यवस्था नहीं बल्कि एक कूटनीतिक दांव थी। मोदी सरकार का मानना था कि चीन के खिलाफ उसकी योजनाओं में अमेरिका एक मजबूत रणनीतिक साझीदार बन रहा है। इससे भी ज्यादा अहम बात शायद सरकार का यह मान लेना था कि अमेरिका के साथ उसकी जगजाहिर जुगलबंदी का असर यह होगा कि जब भी बीजिंग के साथ उसका खुला टकराव होगा, वॉशिंगटन की ओर से उसे भरोसेमंद साथ मिलेगा। लेकिन यह धारणा अमेरिकी विदेश नीति के सबसे महत्वपूर्ण नियम की अनदेखी करती है- साझेदार देशों को किसी भी मदद की कसौटी अमेरिकी हित होने चाहिए, न कि उनके साझेदारों के रणनीतिक सपने।

2020 में जब चीनी सेना ने एलएसी (वास्तविक नियंत्रण रेखा) पर यथास्थिति को बदला, तब अमेरिका भारत की मदद के लिए नहीं आया। गलवान घटना के बाद जब भारत दबाव में था, तब भी अमेरिका भारत के पक्ष में खड़ा नहीं हुआ। उसने केवल कूटनीतिक सहानुभूति, खुफिया जानकारी में सहयोग और रक्षा उपकरणों की बिक्री की पेशकश की। लेकिन, सहानुभूति का मतलब प्रतिबद्धता नहीं होता।

भारत न जापान है और न ही दक्षिण कोरिया। वह अमेरिका का कोई संधि-सहयोगी देश नहीं है। मोदी के रणनीतिक तंत्र ने या तो इस अंतर को समझने में चूक की, या फिर जान-बूझकर इसे नजरअंदाज करने का फैसला किया। लेकिन, ट्रंप और शी के बीच हुई शिखर वार्ता ने इस सच्चाई को पूरी तरह बेनकाब कर दिया।

ट्रंप मूल रूप से लेन-देन की प्रवृत्ति वाले इंसान हैं। उनके बयानों या नीतिगत फैसलों में कोई वैचारिक तालमेल नहीं है। उनकी सोच में, संस्थागत सिद्धांतों के मुकाबले अपनी सहज प्रवृत्ति और निजी तालमेल को हमेशा ज्यादा अहमियत मिलती है। मौजूदा हालात में, उन्हें चीन के साथ रिश्ते सुधारने में फायदा नजर आ रहा है, इसलिए ताइवान से जुड़ी चिंताएं कम अहम हो गई हैं; क्षेत्रीय सहयोगियों को अपने जोखिम खुद ही संभालने होंगे, और टैरिफ को लेकर चल रही लड़ाई पीछे रह गई है।

भारत को कभी भी चीन के लिए ऐसी रणनीति नहीं बनानी चाहिए थी जो किसी अमेरिकी राष्ट्रपति की सनक पर निर्भर हो। समस्या ट्रंप को ठीक से न समझ पाने से कहीं गहरी है। भारत की रणनीतिक स्वायत्तता को लेकर तमाम बड़े-बड़े दावों के बावजूद, मोदी सरकार की विदेश नीति ने भारत के रणनीतिक लचीलेपन को ख़त्म कर दिया है।

भारत को हमेशा अपनी रणनीतिक स्वायत्तता पर गर्व रहा है। तब इसे 'गुटनिरपेक्षता' कहा जाता था। इसका मतलब न तो तटस्थता था और न ही कोई दुविधा; बल्कि यह दिखाता था कि भारत के पास एक स्पष्ट नीतिगत दिशा है, और वह एक लगातार बदलते अंतरराष्ट्रीय परिवेश में अपने लिए दांव-पेच की गुंजाइश बनाए रखेगा। मोदी ने इस सिद्धांत को एक नया रूप दिया, लेकिन वॉशिंगटन की ओर बहुत ज्यादा झुककर उन्होंने इसे अंदर से खोखला कर दिया।

इसके अलावा भारत की चीन नीति में तारतम्यता की कमी रही है। मोदी ने वुहान और मामल्लापुरम में शी के साथ शिखर-स्तरीय कूटनीति अपनाई, जिससे शीर्ष स्तर पर बातचीत में उनका गहरा विश्वास झलका। फिर भी, 2020 का सैन्य टकराव नहीं रुका। सीमा पर तनाव बढ़ गया और चीन की ओर से बुनियादी ढांचे का निर्माण भी नहीं थमा। चीन ने भारत के पड़ोस में अपनी आर्थिक और कूटनीतिक पहुंच का विस्तार किया, जबकि भारत ने इन पड़ोसियों को दूर करके 'सेल्फ-गोल' कर लिया और इससे चीन की ही मदद मिली।

इन विफलताओं के बाद अपनी रणनीति को फिर से तय करने के बजाय, दिल्ली ने वॉशिंगटन के जरिये बाहरी संतुलन बनाने पर और भी ज्यादा जोर दिया। रणनीतिक तौर पर यह एक नासमझी भरा कदम था, क्योंकि कोई भी गंभीर ताकत अपनी विदेश नीति के समीकरण को संतुलित करने का बोझ किसी दूसरी बड़ी ताकत पर नहीं डाल सकती- खास तौर पर ऐसी ताकत पर प्राथमिकताएं वैश्विक स्तर पर फैली हुई और अस्थिर हों।

चीन के मामले में भारत की चुनौतियां ढांचागत, भौगोलिक और स्थायी हैं, जबकि अमेरिका की महाशक्ति-संबंधी चिंताएं रणनीतिक और परिवर्तनशील हैं। अमेरिका और भारत एक ही नाव में सवार नहीं हैं। वॉशिंगटन जरूरत पड़ने पर बीजिंग के साथ सामरिक सह-अस्तित्व पर बातचीत कर सकता है, लेकिन भारत खुद को अपनी जगह से हटा नहीं सकता।

भारत के लिए इससे यह सबक मिलता है कि अमेरिका कभी भी अपनी चीन नीति को भारत की सुरक्षा चिंताओं का बंधक नहीं रखने वाला। अमेरिका अब भी भारत को हथियार दे सकता है, भारत के साथ सहयोग कर सकता है और भारत का ज़ुबानी समर्थन कर सकता है। लेकिन अगर बीजिंग के साथ व्यापक तालमेल अमेरिका के हितों को साधता है, तो वॉशिंगटन के फैसले भारतीय चिंताओं से तय नहीं होंगे। मोदी की विदेश नीति ने अक्सर रणनीतिक साथ को कूटनीतिक समीकरण समझने की भूल की है। इस भ्रम की हमें कीमत चुकानी पड़ रही है।

भारत के अपने पड़ोसी देशों से रिश्ते बिगड़ गए हैं, और चीन ने इस बढ़ते भरोसे की कमी का अपने फायदे के लिए इस्तेमाल किया है। भारत आयातित रक्षा उपकरणों और टेक्नोलॉजी पर बहुत ज्यादा निर्भर है; देश के अंदर सेना का आधुनिकीकरण कमजोर है और उसमें जान-पहचान वालों को फायदा पहुंचाने पर ज्यादा जोर दिया जाता है। भारत में आर्थिक प्रतिस्पर्धा की कमी है, और विदेश में कितनी भी बड़ी-बड़ी बातें कर ली जाएं, वे देश के अंदर की ढांचागत कमजोरियों की भरपाई नहीं कर सकतीं।

चीन के लिए एक भरोसेमंद रणनीति भारत की अपनी आर्थिक मजबूती, तकनीकी क्षमता, रक्षा उत्पादन, सीमा पर बुनियादी ढांचे, क्षेत्रीय साझेदारियों और कूटनीतिक साख पर आधारित होनी चाहिए। इसके लिए यूरोप, दक्षिण-पूर्व एशिया, खाड़ी देशों और खुद बीजिंग सहित कई सत्ता केंद्रों के साथ व्यावहारिक जुड़ाव की भी जरूरत है।

'रणनीतिक स्वायत्तता' का मतलब कभी भी किसी का पक्ष न लेना नहीं था; इसका मतलब हमेशा से अपनी निर्णय लेने की ताकत को बनाए रखना रहा। लेकिन विदेश नीति की मौजूदा व्यवस्था में, जो केवल दिखावे पर आधारित है, यह ताकत कमजोर पड़ गई है। बहरहाल, ट्रंप की बीजिंग यात्रा को एक चेतावनी के तौर पर देखा जाना चाहिए। ■

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्सला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

मणिपुर में शांति दूर की कौड़ी

सौरभ सेन

कुकी-जो समुदाय के तीन चर्च नेताओं की 13 मई को अज्ञात बंदूकधारियों ने हत्या कर दी। थाडो बैपटिस्ट एसोसिएशन के वुमथांग सिटलहो, काइगौलेन और पादरी पाओगौलेन शांति बैठक में भाग लेकर चुराचांदपुर से कांगपोकपी जा रहे थे जब कोटजिम और कोटलेन के बीच उनपर घात लगाकर हमला किया गया। ये तीनों कुकी-नगा शांति वार्ता में शामिल थे।

कूकी इनपी मणिपुर (केआईएम) - जो पूरे पूर्वोत्तर भारत, बांग्लादेश और म्यांमार में कूकी के सर्वोच्च सामाजिक और राजनीतिक संगठन का हिस्सा है- ने शांति प्रयासों को बेपटरी करने के लिए किए गए इस 'कायरतापूर्ण और बर्बर हमले' की कड़ी निंदा की। केआईएम ने हमले के लिए जेलियांग्रोंग यूनाइटेड फ्रंट (जेडयूएफ) के कामसन गुट को दोषी ठहराया। जेडयूएफ इंफाल घाटी में सक्रिय एक विद्रोही समूह है।

केआईएम के आरोप ने मणिपुर के पहाड़ी जिलों में रहने वाले कुकी और तांगखुल नगाओं के बीच (फरवरी 2026 से) बढ़ रहे तनाव से पर्दा उठा दिया है। हालांकि नगाओं का कुकियों के साथ क्षेत्रीय विवादों का लंबा इतिहास रहा है, फिर भी वे कुकी-मैतेई संघर्ष के दौरान तटस्थ रहे; इस संघर्ष में मई 2023 से अब तक सैकड़ों लोग मारे जा चुके हैं और 60,000 से ज्यादा विस्थापित हुए हैं।

18 अप्रैल 2026 को उखरुल जिले में दो तांगखुल नगाओं की हत्या से नगा-कूकी झड़प भड़की। दोनों तरफ लोग मारे गए और कई गांव जला दिए गए। नगा नागरिक समाज समूहों ने इसके लिए कूकी उग्रवादियों को जिम्मेदार ठहराया; वहीं मणिपुर पर नजर रखने वालों ने पहाड़ी इलाकों में रहने वालों के बीच फूट डालने के लिए हिंसा भड़काने में मैतेई समूहों की परोक्ष भूमिका की ओर इशारा किया।

सिटलहो की मृत्यु को इसी संदर्भ में देखना चाहिए। वह एकता स्थापित करने वाली हस्ती थे और 4 मई की कोहिमा बैठक में एक अहम वार्ताकार थे। स्थानीय मीडिया ने बताया कि सिटलहो और उनके सहयोगी नगाओं के साथ एक शांति समझौते के बिल्कुल करीब थे। इस हत्या से वह प्रक्रिया बाधित हो गई, जिसके बाद दोनों ओर से जवाबी कार्रवाई हुई। महिलाओं, एक बच्चे और दो कैथोलिक प्रशिक्षु पादरियों सहित लगभग 40 लोगों को बंधक बना लिया गया। 20 मई तक, 31 नगा और कुकी नागरिकों को रिहा कर दिया गया लेकिन, कोंसाखुल-लीलोन वाइफेई के छह नगा तब भी बंधक थे।

उनकी रिहाई की मांग करते हुए, यूनाइटेड नगा काउंसिल (यूएनसी) ने एनएच-02 पर अनिश्चितकालीन नाकाबंदी शुरू कर दी, जिससे मणिपुर के लिए जरूरी सामान ले जा रहे करीब 2,000 ट्रकों की कतार लग गई। अपनी तरफ से केआईएम ने कुकी-बहुल इलाकों में बंद कर दिया। पूर्वोत्तर भारत में बैपटिस्ट चर्चों की परिषद की 10-सदस्यीय टीम ने दोनों समुदायों में मध्यस्थता शुरू कर दी है। उन्होंने मुख्यमंत्री युमनम खेमचंद सिंह से भेंट की और शांति

यूनाइटेड नगा काउंसिल के तीन दिवसीय बंद के दौरान भड़की हिंसा

स्थापित करने के लिए सेनापति और कांगपोकपी जिलों का दौरा किया; वहीं दूसरी ओर, असम राइफल्स और राज्य पुलिस सहित सुरक्षा बल तलाशी और बचाव अभियान चला रहे हैं।

*

चुराचांदपुर जिले की साइकोट सीट से भाजपा विधायक पाओलिनलाल हाओकिप कहते हैंः ' यह 'गेम ऑफ थ्रोन्स' जैसा एक बेवकूफी भरा खेल है,' दूसरे शब्दों में कहें तो, यह पूर्व मुख्यमंत्री एन. बीरेन सिंह और मौजूदा मुख्यमंत्री (जिनके बारे में माना जाता है कि उनके आरएसएस से गहरे ताल्लुकात हैं) के बीच सत्ता की लड़ाई है। हाओकिप गतिरोध के लिए बीरेन सिंह को जिम्मेदार ठहराते हुए कहते हैं कि मणिपुर में जातीय तनाव भड़काए रखने में उनका अपना स्वार्थ है। उन्होंने 'संडे नवजीवन' से कहा, 'इस साजिश के सरगना के कुछ प्यादे तांगखुल नगाओं के बीच भी मौजूद हैं,' और इस तरह उन्होंने बीरेन सिंह और नगाओं के एक प्रमुख हथियारबंद गुट में गुप्त सांठगांठ की ओर इशारा किया। कहा, 'बीरेन नई दिल्ली को बताना चाहते हैं कि मणिपुर में शांति बहाल के लिए वही एकमात्र जरूरी व्यक्ति हैं, भले उन्होंने खुद सांप्रदायिक हिंसा में अपनी भूमिका होने की बात स्वीकार कर ली हो। 2023 में राज्य के शस्त्रागार से लूटे गए हथियारों और गोला-बारूद में से कितना बरामद हुआ? कितनी एफआईआर पर कार्रवाई हुई?' हाओकिप कहते हैं, 'नशीले पदार्थों के गिरोह हमेशा कमजोर कानून-व्यवस्था और बदनाम प्रशासन का फायदा उठाते हैं। मणिपुर भी कोई अपवाद नहीं।'

साउथ एशियन टेररिज्म पोर्टल के हालिया आकलन के मुताबिक, 'हालांकि मई 2023 से हिंसा मुख्य रूप से मैतेई-कूकी टकरावों के इर्द-गिर्द केन्द्रित थी, लेकिन हाल की घटनाएं नगा-कूकी तनाव का संकेत देती हैं, खास तौर पर उखरुल और कामजोंग जिलों में। नगा नागरिकों, गांवों के स्वयंसेवकों और बस्तियों को निशाना बनाकर किए जा रहे हमलों की बढ़ती संख्या पहाड़ी क्षेत्रों में फैलते संघर्ष का संकेत है, जिसमें क्षेत्रीय दावों की होड़ और जातीय प्रतिद्वंद्विताएं शामिल हैं और इससे व्यापक बहु-जातीय टकराव की आशंकाएं बढ़ गई हैं।'

संघर्ष में नए सदस्यों की संख्या तेजी से बढ़ी है; जबकि मैतेई-कूकी संघर्ष के दौरान इनकी भर्ती लगभग शून्य थी। जैसा कि मानवाधिकार कार्यकर्ता ने नाम न छापने की शर्त पर कहा, 'मणिपुर का मैतेई अभिजात वर्ग, कूकी लोगों को घेरने के लिए नगाओं की चिंताओं का इस्तेमाल कर रहा है।' ■

नगा नागरिकों, गांवों के स्वयंसेवकों और बस्तियों को निशाना बनाकर किए जा रहे हमलों की बढ़ती संख्या पहाड़ी क्षेत्रों में फैलते संघर्ष का संकेत है, जिसमें क्षेत्रीय दावों की होड़ और जातीय प्रतिद्वंद्विताएं शामिल हैं और इससे व्यापक बहु-जातीय टकराव की आशंकाएं बढ़ गई हैं

सौरभ सेन कोलकाता में रहने वाले टिप्पणीकार हैं

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

जेल या बेल? अदालतें सीख रहीं सही फैसला करना

संजय हेगड़े

फोटो: गेटी इमेजेज

उमर खालिद (बाएं) और शरजील इमाम की गिरफ्तारी को पांच साल हो चुके हैं। सर्वोच्च न्यायालय सहित सभी अदालतों ने उन्हें जमानत देने से बार-बार इनकार कर दिया है

इस साल जनवरी में, सुप्रीम कोर्ट ने उमर खालिद और शरजील इमाम को जमानत देने से मना कर दिया। मई में, उसने सैयद इफ्तिखार अंद्राबी को जमानत दे दी। उमर और शरजील पर गैर-कानूनी गतिविधियां (रोकथाम) अधिनियम के तहत आरोप लगाए गए हैं। ट्रायल का इंतजार करते हुए दोनों जेल में पांच साल से ज्यादा समय बिता चुके हैं। उन पर भी वही कानून लागू होता है, लेकिन चार महीने के अंतराल पर बैठीं दो अलग-अलग खंडपीठों ने उसे बिल्कुल अलग-अलग तरीकों से समझा। उन चार महीनों की कहानी बताने लायक है। यह कहानी है कि कैसे सुप्रीम कोर्ट अपने ही गिरेबां में झांकते हुए धीरे-धीरे अपने भटकाव को दुरुस्त कर रहा है।

इस पूरे मामले के केन्द्र में यूएपीए की धारा 43-डी(5) है। यह जज को कहती है कि अगर पुलिस के केस को देखने पर कोर्ट को लगता है कि यह मानने के उचित आधार हैं कि आरोप सही है, तो जमानत नहीं देनी चाहिए। अगर इसे शब्दशः लें, तो यह एक बहुत बड़ी शर्त है। जज से यह मान लेने को कहा जाता है कि पुलिस की कहानी सही है, और फिर इसी धारणा के आधार पर आजादी देने से मना कर दिया जाए।

कुछ सालों तक कानून दो विपरीत ध्रुवों के बीच झूलता रहा। 2019 में, 'जहूर अहमद शाह वटाली' मामले में, अदालत ने सख्त रुख अपनाया। हाईकोर्ट के उस आदेश को पलट दिया गया, जिसमें सबूतों की बारीकी से छानबीन के बाद जमानत दी गई थी। 2021 में, 'के.ए. नजीब' मामले में, तीन जजों ने अलग नजरिया अपनाया। उन्होंने फैसला दिया कि जहां मुकदमा शुरू होने की कोई उम्मीद नहीं और कोई व्यक्ति अपनी संभावित सजा का ज्यादातर हिस्सा पहले ही काट चुका है, वहां धारा 43-डी(5) की सख्तियां-अदालत के एक प्रभावशाली वाक्यांश में- अनुच्छेद 21 के सामने 'पिघल जाएंगी'। यह सिद्धांत तर्कसंगत है। स्वतंत्रता ही नियम है। बिना मुकदमे के हिरासत को अप्रत्यक्ष सजा में नहीं बदला जा सकता।

फिर धीरे-धीरे चीजें बदलने लगीं। दो जजों की खंडपीठों ने 'नजीब' के फैसले को सीमित दायरे में देखना शुरू कर दिया, और इसे अपवाद माना। उन्होंने फिर से 'वाताली' पर जोर दिया। जब 2024 में 'गुरविंदर सिंह' मामले पर फैसला आया, तब तक अदालत ने नजीब के फैसले को व्यावहारिक रूप से बेअसर कर दिया था। जब जनवरी 2026 में दिल्ली दंगों की साजिश का मामला सुप्रीम कोर्ट पहुंचा, तब तक जमानत पर लगी डिफॉल्ट रोक फिर से सख्त होकर लगभग अपने मूल रूप में लौट चुकी थी।

उस मामले में, जस्टिस अरविंद कुमार और एन.वी. अंजारिया ने पांच आरोपियों को जमानत दे दी। गुलफिशा फातिमा, मीरान हैदर, शिफा-उर-रहमान, सलीम खान और शादाब अहमद पांच साल से ज्यादा समय तक हिरासत में रहने के बाद रिहा हो गए। लेकिन उसी खंडपीठ ने उमर खालिद और शरजील इमाम को जमानत देने से मना कर दिया। पीठ ने उन्हें मुख्य साजिशकर्ता माना और उन्हें दोबारा जमानत अर्जी दाखिल करने की इजाजत इस शर्त पर दी कि या तो गवाहों की गवाही पूरी हो जाए, या फिर एक साल बाद- इनमें से जो भी पहले हो।

इतनी सावधानी से छानबीन के बावजूद, इस फैसले में एक अफसोसनाक धारणा छिपी थी। इसने 'नजीब' को एक संकीर्ण 'सेफ्टी वॉल्व' (सुरक्षा कवच) के तौर पर देखा, न कि एक संवैधानिक सिद्धांत के रूप में। इसने धारा 43-डी(5) को ही मुख्य नियम माना, जबकि अनुच्छेद 21 कहीं पृष्ठभूमि में चला गया।

चार महीने बाद, जस्टिस बी.वी. नागरत्ना और जस्टिस उज्ज्वल भुइयां ने इस मामले को अलग नजरिये से देखा। उनके सामने जो व्यक्ति था, वह सैयद इफ्तिखार अंद्राबी था। वह कुपवाड़ा में ग्रामीण विकास विभाग में एक ग्राम-स्तरीय कार्यकर्ता था। वह जम्मू और कश्मीर पीपुल्स कॉन्फ्रेंस से जुड़ा एक राजनीतिक कार्यकर्ता भी था। उसे जून 2020 में गिरफ्तार किया गया था, जब कुहरू पुल पर रुकी एक गाड़ी से हेरोइन और करेंसी नोट बरामद हुए थे। एनआईए ने मामले की जांच अपने हाथ में ली। उस पर एनडीपीएस एक्ट और यूएपीए के तहत आरोप लगाए गए। मई 2026 तक, वह पांच साल ग्यारह महीने जेल में बिता चुका था। अभियोजन पक्ष को तीन सौ पचास से ज्यादा गवाहों से पूछताछ करनी थी और उसके मुकदमे का अंत कहीं नजर नहीं आ रहा था। लिहाजा, दोनों जजों ने उसे जमानत दे दी। वे यहीं रुक सकते थे, लेकिन नहीं रुके।

> उमर और शरजील जेल में हैं। उनकी जमानत की नई अर्जी आने में कुछ महीने हैं। लेकिन उनकी सुनवाई ऐसी अदालत में होगी, जिसने जनवरी से मई के बीच दिखाया है कि वह इस बारे में ज्यादा स्पष्टता से सोचती है कि उसका ऐसे लोगों के प्रति क्या फर्ज है

इसके बाद एक बेहद साफ-साफ स्पष्टीकरण सामने आया कि कैसे तीन जजों की पीठ के फैसले को, उससे कम जजों वाली पीठ ने चुपके से खोखला कर दिया था। इस फैसले में उन मामलों के नाम भी बताए गए थे। इसमें कहा गया था कि 'गुरविंदर' ने 'वताली' को इस तरह पढ़ा, मानो 'नजीब' हुआ ही न हो। 'गुलशन फातिमा'- जिस पर चार महीने पहले फैसला आया था- ने नजीब को महज एक फुटनोट बनाकर रख दिया था।

इसका तर्क सीधा था। 'नजीब' ही कानून है। यह तीन जजों द्वारा दिया गया फैसला था। छोटी पीठ के लिए इसका पालन अनिवार्य था। यदि वह ऐसा नहीं कर सकती थी, तो अकेला सम्मानजनक रास्ता यही था कि वे इस मामले को बड़ी पीठ के पास भेज दें। 'नजीब' का पालन करने का दिखावा करते हुए उसे फिर से लिखना न्यायिक अनुशासन नहीं; कुछ और ही था।

इसके बाद जजों ने कुछ ऐसा किया जो और भी ज्यादा दुर्लभ था। उन्होंने आंकड़ों का सहारा लिया। दिसंबर 2025 में, गृह राज्य मंत्री ने लोकसभा के सामने कुछ आंकड़े पेश किए थे। पूरे भारत में, 2019 से 2023 के बीच, यूएपीए के तहत लगभग 10,500 लोगों को गिरफ्तार किया गया, जबकि 335 लोग दोषी ठहराए जा सके। दोषी ठहराए जाने की दर दो से छह फीसद के बीच रही। जम्मू-कश्मीर में तो यह दर एक फीसद से भी कम थी। सौ में से निन्यानवे बार, मामला बरी होने पर ही खत्म हुआ।

जजों ने सिर्फ वही सवाल पूछा जो सबसे ज्यादा अहम था। जब कोर्ट के सामने ऐसे आंकड़े थे, तो क्या यह सही है कि अंद्राबी जैसे व्यक्ति को सिर्फ इसलिए सालों-साल जेल में रखा जाए क्योंकि उसपर लगे आरोप गंभीर लग रहे थे? उन्होंने उसे रिहा करके इस सवाल का जवाब दे दिया। उन्होंने कहा कि वह अपना पासपोर्ट जमा करा दे। हर पंद्रह दिन में एक बार हंदवाड़ा पुलिस स्टेशन में हाजिरी दे। मुकदमे की सुनवाई में सहयोग करे। गवाहों को धमकाए नहीं।

इस फैसले के आखिर में एक बहुत ही प्यारी बात कही गई थी। फैसला लिखने वाले जस्टिस भुइयां ने बताया कि यह आदेश उनकी साथी जज, जस्टिस नागरत्ना के अमूल्य सुझावों पर आधारित था। एक ऐसी अदालत में, जो आपस में एक-दूसरे के काम की सराहने के लिए मशहूर नहीं है, यह बात अपने आप में बहुत मायने रखती है।

इन सब बातों का नतीजा क्या निकलता है? इसका नतीजा दो ऐसे प्रस्तावों के रूप में सामने आता है, जिन्हें एक साथ समझना जरूरी है। पहला यह कि संविधान महज नारा नहीं है। अनुच्छेद 21 किसी कानून के ऊपर हवा में नहीं तैरता, बल्कि वह उस कानून के भीतर ही प्रवाहित होता है। धारा 43-डी(5) त्वरित सुनवाई के अधिकार को निलंबित नहीं करती; बल्कि इसे अनुच्छेद 21 के संदर्भ में ही पढ़ा जाना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि न्यायिक अनुशासन केवल एक ही दिशा में काम करता है। दो जजों की पीठ, तीन जजों की पीठ द्वारा तय मामले को चुपचाप पलट नहीं सकती। असहमति जताने का सही तरीका यह है कि आप अपनी बात खुलकर कहें और मामले को ऊंची पीठ के पास भेज दें। जिस तरीके से सबसे ज्यादा बचना चाहिए, वह यह है कि आप पुराने मामले का ही हवाला देते रहें और नए मामले को अपवाद मानकर नजरअंदाज कर दें।

उमर खालिद और शरजील इमाम अब भी जेल में हैं। उनकी जमानत के लिए नई अर्जी आने में अभी कुछ महीने हैं। उनकी सुनवाई ऐसी अदालत में होगी, जिसने जनवरी से मई के बीच दिखाया है कि वह इस बारे में ज्यादा स्पष्टता से सोचती है कि उसका ऐसे लोगों के प्रति क्या फर्ज है। यह अपने आप में बड़ी बात है। असल में, अदालतें ऐसे ही परिपक्व होती हैं। ■

कमाल मौला / भोजशाला पर फैसला

धार्मिक कट्टरता के पेश-ए-ख़िदमत एक और फ़र्जी इतिहास

हाईकोर्ट ने फैसले में एएसआई की रिपोर्ट के आधे-अधूरे तथ्यों को बनाया आधार

रुचिका शर्मा

धार में कमाल मौला मस्जिद के बाहर सुरक्षाकर्मी, जिसे मध्य प्रदेश हाई कोर्ट ने सरस्वती मंदिर बताया है। (बाएं) कमाल मौला मस्जिद के अंदर खुतबा देने की जगह

मध्य प्रदेश हाईकोर्ट की दो जजों की खंडपीठ ने 15 मई को इंदौर के पास धार स्थित 700 साल पुरानी मस्जिद को हिन्दू देवी सरस्वती का मंदिर घोषित कर दिया। यह फैसला मुख्यतः भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (एएसआई) द्वारा अदालती आदेश पर किए गए जीपीआर (ग्राउंड पेनेट्रेटिंग राडार) सर्वे पर आधारित था।

सर्वे के मुताबिक, 14वीं सदी की खंभों वाली इमारत- कमाल मौला मस्जिद (जो धार की पहली जामा मस्जिद भी थी)- को 11वीं सदी के एक पहले से मौजूद मंदिर के ऊपर बनाया गया था। इस मंदिर को आज 'भोजशाला' (11वीं सदी के परमार राजा भोज के नाम पर) के नाम से जाना जाता है। लेकिन एएसआई की पुरातात्विक व्याख्या और अदालत का फैसला- दोनों ही ऐतिहासिक स्रोतों, वास्तुकला के दोबारा इस्तेमाल की प्रक्रिया और धर्मों के ऐतिहासिक विकास को समझने के मामले में समस्याग्रस्त हैं।

सर्वे के संक्षिप्त निष्कर्ष, जैसा कि अदालती आदेश में दर्ज है, मस्जिद के नीचे पहले से मौजूद ढांचे की ओर इशारा करते हैं, जो 'शायद सार्वजनिक उद्देश्य के लिहाज से बहुत विशाल' था (पृष्ठ 186)। इसमें कहा गया है कि उस ढांचे को 'तोड़ा गया और उसे दोबारा इस्तेमाल करने के लिए बदला गया'। हालांकि पृष्ठ 189 पर एएसआई अपनी ही बात का खंडन करता है, जब वह कहता है कि 'स्तंभों और उप-स्तंभों की कला और वास्तुकला से पता चलता है कि वे मूल रूप से 'मंदिरों' का हिस्सा थे'। यानी, ये अवशेष किसी एक ढांचे के नहीं, बल्कि कई मंदिरों से आए। (पृष्ठ 189)।

नीचे मौजूद संरचना की मंदिर के रूप में पहचान उसमें इस्तेमाल सामग्री के आधार पर की गई। एएसआई के मुताबिक, दोबारा इस्तेमाल किए गए खंभों पर चार भुजाओं वाले देवताओं के साथ-साथ गणेश जैसे अन्य पौराणिक देवताओं की आकृतियां पाई गईं, हालांकि इस्लामी मूर्तिभंजन (मूर्तियों को तोड़ने की प्रथा) के अनुरूप उन्हें विकृत कर दिया गया।

सर्वेक्षण इस संभावना पर गौर नहीं करता कि नीचे मौजूद संरचना कोई महल भी हो सकती है, और यह कि मस्जिद बनाने के लिए दोबारा इस्तेमाल की गई सामग्री किसी महल से भी ली जा सकती थी। देवी-देवताओं को दिखाने वाली नक्काशीदार आकृतियां महलों के खंभों, कंगूरों और दरवाजों की आम खासियत हुआ करती थीं।

एएसआई अपनी ही इस बात को भी नजरअंदाज करता है कि मस्जिद में दोबारा इस्तेमाल सामग्री कई स्रोतों से आई थी (पृष्ठ 189)। इसके अलावा, यह सर्वे अपने इस दावे के लिए भी कोई सबूत नहीं देता कि पहले से मौजूद जो इमारत थी, वही तोड़ी गई थी और उसे ही मस्जिद में दोबारा इस्तेमाल किया गया था।

2019 के अयोध्या फैसले (पृष्ठ 906-907) ने दिखाया कि कैसे गैर-कानूनी तरीके से ढहाई गई बाबरी मस्जिद के नीचे पूरी खुदाई भी साबित नहीं कर पाई कि उसके नीचे की इमारत नष्ट हुई थी। तो फिर, एएसआई जीपीआर सर्वे के जरिये किसी पुरानी इमारत के नष्ट होने की बात कैसे साबित कर सकता है?

इस बात को कि पहले से मौजूद ढांचा शायद एक महल था, 'वाग्देवी' की मूर्ति की 'खोज' से और मजबूती मिलती है। इसका जिक्र सबसे पहले पेज 12 पर आता है, और यह दावा किया गया है कि यह मूर्ति 'देवी वाग्देवी (मां सरस्वती) की प्रतिमा है, जिसे मुस्लिम शासकों ने जमीन में दबा दिया था'। इस दावे के बाद एक टूटा हुआ वेबलिंक दिया गया है, जिसमें 'ब्रिटिश म्यूजियम' की स्पेलिंग गलत है। इसकी बात फिर से पेज 44 पर आती है, और वह वेबलिंक फिर से कहीं नहीं ले जाता; शायद इसलिए क्योंकि उसमें फिर से 'ब्रिटिश म्यूजियम' की स्पेलिंग गलत लिखी है।

सही वेबलिंक एक दिलचस्प तस्वीर पेश करता है। इसमें इसे 'मोटे सफेद संगमरमर से तराशी गई जैन यक्षिणी अंबिका की खड़ी मूर्ति' बताया गया है। ब्रिटिश म्यूजियम की साइट पर कहीं भी इस मूर्ति की पहचान देवी सरस्वती के रूप में नहीं है। मूर्ति की पहचान जैन यक्षिणी अंबिका के रूप में इसके साथ मौजूद एक शिलालेख के आधार पर की गई है; यह शिलालेख इस मूर्ति को 1034 ई. का बताता है और कहता है कि वररुचि ने वाग्देवी समेत तीन मूर्तियां बनाने के बाद, अंबा की यह प्रतिमा बनाई। वररुचि शिलालेख में खुद को चंद्रनगरी और विद्याधरी के धर्म के प्रति समर्पित व्यक्ति बताते हैं और ये दोनों ही जैन धर्म की शाखाएं हैं। यह मूर्ति न केवल एक जैन यक्षिणी की है, बल्कि इसे एक जैन व्यक्ति ने ही बनाया है। इस जानकारी को पूरी तरह नजरअंदाज कर दिया गया है, और पृष्ठ 12 पर वाग्देवी और अंबा, दोनों को ही देवी सरस्वती के रूप में प्रस्तुत किया गया है और इस हास्यास्पद दावे के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया गया!

यह फैसला इस तथ्य को भी नजरअंदाज करता है कि जैन यक्षिणी की मूर्ति 1875 में धार के एक शहरी महल के खंडहरों में औपनिवेशिक सर्वेक्षक विलियम किनकैड को मिली थी- यह जानकारी ब्रिटिश संग्रहालय की वेबसाइट पर दी गई है, लेकिन आदेश में इसका जिक्र नहीं है। जैन यक्षिणी अंबिका को जान-बूझकर सरस्वती की मूर्ति के रूप में पेश करना ही एकमात्र ऐसा सबूत है, जिसके आधार पर दावा किया जाता है कि यहां परमार राजा भोज द्वारा बनवाया गया सरस्वती मंदिर था और इसे 1034 ईस्वी में बनाया गया था।

पहले से मौजूद ढांचा मूलतः जैन था, इस संभावना को इससे भी बल मिलता है कि उसी एएसआई सर्वेक्षण में मस्जिद परिसर के भीतर एक जैन तीर्थंकर की मूर्ति मिलने की बात है। यह फैसला (पृष्ठ 234 पर) इस बात को यह दावा करके खारिज करने की कोशिश करता है कि 'भारत में, जैन धर्म और हिन्दू धर्म अलग-अलग अस्तित्व में नहीं हैं। हालांकि, इन दोनों में पूजा-पाठ के तरीके अलग हो सकते हैं, लेकिन दोनों ही धर्म साथ-साथ विकसित हुए और दोनों ही एक ही परम सत्ता की आराधना करते हैं।' यह दावा ऐतिहासिक रूप से सही नहीं। तमिलनाडु के चट्टानों को काटकर बनाए गए मंदिरों पर अपने 1975 के अध्ययन में, पुरातत्वविद् के.आर. श्रीनिवासन दिखाते हैं कि कैसे 8वीं और 9वीं शताब्दी में जैन धर्म के कई चट्टानी मंदिर शैव या वैष्णव मंदिरों में बदले गए थे।

जैन और हिन्दू धर्मों को अलग-अलग न पहचानना, हिन्दू धर्म की उस औपनिवेशिक परिभाषा को भी दोहराता है, जिसके मुताबिक हिन्दू धर्म का अर्थ है-'न मुस्लिम, न ईसाई'। हिन्दू धर्म की इस गलत समझ का अनुसरण औपनिवेशिक सर्वेक्षकों ने भी किया था; जिनमें मुख्यतः वास्तु-इतिहासकार जेम्स फर्ग्यूसन शामिल थे; जिन्होंने भारतीय वास्तुकला पर अपने 1876 के कार्य में, जैन बसादियों और बौद्ध स्तूपों को 'हिन्दू वास्तुकला' की श्रेणी में रखा था।

यह आदेश न केवल हिन्दू धर्म की ब्रिटिश परिभाषा पर आधारित है, बल्कि मस्जिद के भीतर पाए गए संस्कृत शिलालेखों को समझने के लिए औपनिवेशिक स्रोतों पर भी निर्भर करता है। ऐसा कोई भी संस्कृत स्रोत उद्धृत नहीं किया गया है, जिसमें मस्जिद के आसपास किसी मंदिर की मौजूदगी का जिक्र हो। ठीक वैसे ही, जैसे किसी महल में मिली जैन यक्षिणी अंबिका की मूर्ति को सरस्वती बता दिया जाता है, वैसे ही विवादित स्थल से 3 किलोमीटर दूर, सूफी संत अब्दुल्ला शाह चंगल की मजार में मिले एक शिलालेख को भी वहां पहले से मौजूद किसी इमारत को तोड़े जाने के सबूत के तौर पर पेश किया जाता है। एएसआई ने कमाल मौला मस्जिद स्थल पर कथित तौर पर तोड़े गए मंदिर और चंगल की मजार पर मिले शिलालेख के बीच यह रिश्ता कैसे जोड़ा है, इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है।

यह मान लेने के अलावा कि इसकी मूल संरचना मंदिर थी, इसमें इस्तेमाल सामग्री पहले से मौजूद मंदिर की थी, इसमें मौजूद जैन आकृति सरस्वती की मूर्ति थी, और यह कि हिन्दू धर्म और जैन धर्म अलग-अलग नहीं हैं, जिस बात को नजरअंदाज किया गया, वह है इस संरचना का 700 सालों से एक मस्जिद होने का इतिहास।

यहां मिला एक शिलालेख (जो एएसआई सर्वे में भी है) बताता है कि मालवा के गवर्नर दिलावर खान गोरी ने 1392-93 में धार की मस्जिदों की मरम्मत करवाई थी। इससे पुष्टि होती है कि कमाल मौला मस्जिद 13वीं सदी के शुरू में बनवाई गई थी, संभवतः सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के गवर्नर, ऐन-उल-मुल्क मुल्तानी द्वारा।

इस मस्जिद में एक 'मेहराब' है, जिसपर कुरान की आयतें हैं; इसमें एक 'मिंबर' (उपदेश देने का मंच) और एक 'जनाना' (महिलाओं के लिए आरक्षित जगह) भी है। यह फैसला न केवल इस स्थल और पूरे क्षेत्र के जैन इतिहास को मिटाता है, बल्कि यह इस इमारत के मस्जिद के रूप में रहे लंबे इतिहास को भी नजरअंदाज कर देता है – वह इतिहास जो चिश्ती सूफी संत कमाल मालवी की मज़ार से जुड़ा है। ■

> यह फैसला न केवल इस स्थल और पूरे क्षेत्र के जैन इतिहास को मिटाता है, बल्कि इस इमारत के मस्जिद के रूप में रहे लंबे इतिहास को भी नजरअंदाज कर देता है – वह इतिहास जो चिश्ती सूफी संत कमाल मालवी की मज़ार से जुड़ा है

रुचिका शर्मा दिल्ली में रहने वाली इतिहासकार और प्रोफेसर हैं

संडे नवजीवन
रविवार, 24 मई, 2026 Iwww.navjivanindia.com

महिला सुरक्षा और आंकड़ों के पीछे की बाजीगरी

राष्ट्रीय अपराध दर में मामूली गिरावट से क्या किसी को राहत मिली है? हकीकत पर गौर कर लें

रश्मि सहगल

ग्रेटर नोएडा की दीपिका नागर और रोते-बिलखते उनके पिता और बहन

ग्रेटर नोएडा में 24 वर्षीय दीपिका नागर की हालिया मौत से वह कड़वी सच्चाई फिर सामने आ गई कि आंकड़े कुछ भी बोलें, महिलाओं के विरुद्ध अपराधों का ग्राफ लगातार बढ़ रहा है।

दीपिका की मौत 18 मई की सुबह हुई। आरोप है कि दहेज लोभी ससुराल वालों ने उसे छत से नीचे फेंक दिया। दीपिका के माता-पिता का कहना है कि वह 20 लाख का दहेज पहले ही दे चुके थे, लेकिन उसके पति और ससुराल वाले कथित रूप से 50 लाख कैश और एक टोयोटा फॉर्च्यूनर और देने पर अड़े थे।

बमुश्किल एक हफ्ते पहले ही 12 मई को मॉडल और अभिनेत्री ट्विशा शर्मा भोपाल स्थित अपनी ससुराल में फंदे से लटकी मिलीं। रिटायर्ड प्रिंसिपल डिस्ट्रिक्ट और सेशंस जज गिरिबाला सिंह उनकी सास हैं। जांचकर्ता पोस्टमॉर्टम के दौरान आत्महत्या में इस्तेमाल बेल्ट प्रस्तुत नहीं कर पाए। सेंटर फॉर सोशल रिसर्च की महिला अधिकार कार्यकर्ता डॉ. रंजना कुमारी का सवाल थाः दहेज से जुड़ी मौत जैसी संवेदनशील जांच में ऐसी चूक कैसे संभव है।

यह कोई अलग-थलग मामले नहीं हैं। एक बड़ी राष्ट्रीय आपात स्थिति का हिस्सा हैं, जो नेशनल क्राइम रिकॉर्ड्स ब्यूरो (एनसीआरबी) का ताजा डेटा आंशिक रूप से दिखाता है। इसके अनुसार, 2024 में 4.41 लाख मामले दर्ज हुए, जो 2023 में दर्ज 4.48 लाख मामलों से कुछ ही कम हैं। अपराध दर भी थोड़ी कम होकर 66.2 से 64.6 प्रति लाख महिलाओं पर आ गई। तो क्या महिलाएं ज्यादा सुरक्षित हैं? चलिए देखते हैं!

भारत में 2024 में दहेज से जुड़ी 5,737 मौतें दर्ज हुईं, यानी औसतन हर दिन लगभग 16 महिलाओं की मौत। त्रासदी यह कि जहां महिलाओं के खिलाफ अपराध लगातार बढ़ रहे हैं, और जिसका श्रेय एनसीआरबी बेहतर रिपोर्टिंग को देता है, लेकिन दोषसिद्धि की दर अब भी शर्मनाक है।

भारत में हर 18 मिनट में एक बलात्कार रिपोर्ट होता है, लेकिन ऐसे मामलों में राष्ट्रीय दोषसिद्धि दर महज 24.4 प्रतिशत है। व्यावहारिक तौर पर आशय यह कि, रिपोर्ट किए गए हर 100 मामलों में से 25 से भी कम मामलों में सजा हो पाती है। उत्तर प्रदेश-हरियाणा सरीखे गहरी पितृसत्तात्मक जड़ों वाले राज्यों में दोषसिद्धि दर प्रायः 20 प्रतिशत से नीचे रह जाती है; वहीं बिहार और झारखंड जैसे गरीब राज्यों में यह 10 प्रतिशत से भी नीचे रहती है। दहेज हत्या में राष्ट्रीय दोषसिद्धि दर 11 से 17 प्रतिशत के बीच रहती है।

भारतीय न्याय व्यवस्था में होने वाली कुख्यात लेट-लतीफी हालात और बिगाड़ती है। गवाह डरा-धमका कर चुप करा दिए जाते हैं, और बेहतर रसूख वाले संसाधन संपन्न आरोपी तो न्यायिक प्रक्रिया प्रभावित करने को कुख्यात ही हैं।

इस संस्थागत विफलता का दिल्ली जीता-जागता उदाहरण है। देश में बलात्कार के सबसे ज्यादा मामले (1,058) दर्ज होने के बावजूद, यहां दोषसिद्धि दर 33.5 प्रतिशत पर कायम है, जो तकनीकी रूप से तो राष्ट्रीय औसत से ऊपर है, लेकिन चिंताजनक रूप से नाकाफी। और भी शर्मनाक यह कि पिछले 12 वर्षों से पुलिस के सीधे केन्द्रीय गृह मंत्रालय के अधीन होने के बावजूद, दिल्ली का महिलाओं के लिए सबसे असुरक्षित का दर्जा कायम है।

घरेलू हिंसा महिलाओं के विरुद्ध सबसे व्यापक, लेकिन सबसे कम दर्ज होने वाला अपराध है। दिल्ली में दर्ज 13,396 मामलों में से 4,647 मामले पति या रिश्तेदारों की क्रूरता के थे। एनसीआरबी के आंकड़े बताते हैं कि महिलाओं के खिलाफ दर्ज सभी अपराधों में से 42.3 प्रतिशत मामले घरेलू हिंसा के होते हैं। एक्टिविस्ट मानते हैं कि असली आंकड़े कहीं ज्यादा हैं। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण-5 के आंकड़े बताते हैं कि शादीशुदा भारतीय महिलाओं में से लगभग हर तीसरी महिला अपने पति के हाथों शारीरिक, यौन या भावनात्मक हिंसा का शिकार है। ज्यादातर महिलाएं पुलिस के पास कभी जातीं ही नहीं। यहां तक कि दर्ज मामलों में भी, सजा मिलने की दर का औसत महज 11 प्रतिशत है।

अपराध के राज्यवार आंकड़े भी कम चिंताजनक नहीं।

गुजरात, प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की आंखों का नूर है और 'गुजरात मॉडल' के तौर पर मशहूर भी। वहां 2023 के मुकाबले 2024 में हिंसक अपराध 33 प्रतिशत बढ़े (6.15 लाख मामले)। 2025 में यह और बढ़ा। अहमदाबाद में बलात्कार के 62 और सूरत में 84 मामले दर्ज हुए। पूरे देश में आदिवासी महिलाओं के साथ बलात्कार के सबसे ज्यादा मामले भी गुजरात में ही दर्ज हुए; एक साल में 384 एफआईआर। नाबालिगों के साथ यौन उत्पीड़न के 7,355 और मामले दर्ज हुए, जिनमें से कई में छोटी बच्चियां शिकार बनीं।

महिला सुरक्षा पर बयानबाजी का जमीनी हकीकत से कोई वास्ता नहीं। जैसा कि बलात्कार के आरोपी की जेल से रिहाई पर समर्थकों द्वारा जुलूस निकालने वाले हालिया वीडियो से जाहिर होता है, अपराधी आश्वस्त हैं कि वे सजा से बच निकलेंगे

भोपाल में अपनी ससुराल में फंदे से लटकी मिली ट्विशा। बेटी के गम में उनके पिता

महिलाओं के लिए अपेक्षाकृत ज्यादा सुरक्षित माने जाने वाले ओडिशा में भाजपा के मुख्यमंत्री मोहन चरण माझी के कुर्सी संभालने के बाद स्थिति में गंभीर गिरावट आई। सरकारी आंकड़ों के अनुसार, 2025 में संज्ञेय अपराधों में 7.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई, और कुल मामले 14,113 से बढ़कर 2,29,881 पर पहुंच गए। महिलाओं और बच्चों के खिलाफ अपराधों में 5.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई, और दर्ज मामले 32,000 के पार पहुंच गए। अकेले भुवनेश्वर में ही अपराध लगभग 9 प्रतिशत बढ़े।

मध्य प्रदेश महिला सुरक्षा को लेकर देश के सबसे खराब राज्यों में है। यहां जून 2025 तक, 23,000 से ज्यादा महिलाओं और लड़कियों के लापता होने की रिपोर्ट दर्ज हुईं। बलात्कार के आरोप में करीब 1,500 आरोपी फरार हैं। मुख्यमंत्री मोहन यादव को तो शर्म से डूब जाना चाहिए, क्योंकि यह उन्हीं का राज्य है जहां लगातार तीसरे साल गर्भवती महिलाओं से बलात्कार के सबसे ज्यादा केस दर्ज हुए। भोपाल, धार, शिवपुरी और सतना जैसे जिलों से मिली रिपोर्टों में राजनीतिक रसूखदार लोगों द्वारा की गई गंभीर यौन हिंसा की बार-बार होने वाली घटनाओं का विस्तृत ब्योरा है।

हरियाणा में मुख्यमंत्री नायब सिंह सैनी के नेतृत्व में हिंसक अपराध बड़ा राजनीतिक मुद्दा बन गया है, जबकि गृह विभाग उन्हीं के पास है। एनसीआरबी के आंकड़े बताते हैं कि राज्य में हर दिन पांच यौन अपराध होते हैं। कांग्रेस नेता कुमारी शैलजा ने हाल ही में बताया कि 2024 में हरियाणा में बच्चों के खिलाफ अपराध के 7,547 मामले दर्ज हुए, जो 2023 में दर्ज 6,401 की तुलना में लगभग 18 प्रतिशत ज्यादा हैं। इनमें यौन शोषण, अपहरण, हिंसा और हत्या जैसे गंभीर अपराध शामिल थे।

बिहार में दर्ज घटनाएं 2023 में 52,165 से बढ़कर 2024 में 1,07,303 से भी ज्यादा हो गईं, यानी 105 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि दर। 2026 की शुरुआती रिपोर्ट बताती हैं कि सामूहिक बलात्कार की घटनाएं बार-बार हो रही हैं, और इनमें गांवों, ट्रेनों और ग्रामीण जिलों में नाबालिगों पर हमले शामिल हैं।

महाराष्ट्र में भी 89 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। 2023 में यह संख्या 46,249 थी, जो 2024 में बढ़कर 87,791 हो गई। राज्य में बच्चों के खिलाफ होने वाले अपराधों की संख्या भी देश में सबसे ज्यादा (24,171 मामले) रही, और बड़े महानगरों में महिलाओं के खिलाफ होने वाले अपराधों के मामले में मुंबई, दिल्ली के बाद दूसरे स्थान पर रहा।

उत्तराखंड में महिला अपराध 36 प्रतिशत बढ़े और यहां 2022 के बाद सिर्फ बलात्कार के मामले 30 प्रतिशत बढ़े। यहां इन मामलों की जांच-पड़ताल भी सवालों के घेरे में है; पुलिस पर आरोप है कि सत्ताधारी दल से रिश्तों के चलते उसने संदिग्धों को 'क्लीन चिट' दे दी।

5 मई 2026 को चंपावत में 16 साल की, 10वीं की छात्रा से कथित गैंगरेप का उदाहरण लीजिए (चंपावत सीएम धामी के चुनाव क्षेत्र में है)। लड़की के पिता ने एक भाजपा पदाधिकारी और उसके साथियों पर रेप का आरोप लगाया। अंकिता भंडारी हत्याकांड को लेकर राज्यव्यापी विरोध प्रदर्शनों के सामने बेबस धामी ने वरिष्ठ अधिकारियों और पुलिस को तत्काल कार्रवाई का आदेश दिया। कार्रवाई भी ऐसी त्वरित हुई कि मामला 24 घंटे के अंदर ही 'सुलझ' गया। पुलिस ने ऐलान किया कि कोई रेप हुआ ही नहीं था और लड़की के पिता ने शिकायत वापस भी ले ली।

उत्तर प्रदेश, मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ के अपराध के प्रति "जीरो टॉलरेंस" के दावों के बावजूद, महिलाओं के खिलाफ अपराधों के मामले में सबसे आगे बना हुआ है। रिपोर्ट किए गए मामले 49,385 (2020) से बढ़कर 56,083 (2021) और फिर 65,000 से भी ज्यादा (2022-2024) हो गए। जाहिर है, मार्च 2017 और दिसंबर 2025 के बीच हुए 15,726 'एनकाउंटर' भी सारे "कट्टर अपराधियों" को खत्म नहीं कर पाए हैं।

दक्षिण की ओर चलें तो, तेलंगाना में 2024 में कुल संज्ञेय अपराधों में लगभग 19 प्रतिशत की बढ़ोतरी दिखी। जहां एक ओर बेंगलुरु 19 महानगरों में हिंसक अपराध के 5,612 मामलों के साथ तीसरे स्थान पर रहा, कर्नाटक में 2024 में अपराध दर में गिरावट दर्ज हुई।

राष्ट्रीय अपराध दर में मामूली कमी से राहत महसूस करने वालों को भूलना नहीं चाहिए कि महिला सुरक्षा को पर होने वाली राजनीतिक बयानबाजी जमीनी हकीकत के सामने खोखली साबित हो रही है। जैसा कि बलात्कार के आरोपी (हिन्दू युवा वाहिनी का पूर्व सदस्य सुशील प्रजापति) की जेल से रिहाई पर समर्थकों द्वारा माला पहनाकर जुलूस निकालने वाले हालिया वीडियो (17 मई) से जाहिर होता है, अपराधी पूरी तरह आश्वस्त हैं कि वे अपने किए की सजा से बच निकलेंगे, और वे वाकई ऐसा करने में सफल हैं। ■

ईरान ने युद्ध कला का सबक सिखाया

राष्ट्रपति ट्रंप इज्जत बचाकर भागने की फिराक में जबकि हावी ईरान ने मांगों की फेहरिस्त थमा दी

अशोक स्वैन

युद्ध केवल वे नहीं जीतते जो बम गिराते और लोगों को मारते हैं। युद्ध वे भी जीतते हैं जो दुश्मन को उसके मकसद में कामयाब होने से रोकते हुए अपने राजनीतिक लक्ष्य हासिल करते हैं। इस नजरिये से ईरान कब का अमेरिका से युद्ध जीत चुका है, भले उसने अमेरिका को पारंपरिक मायने में न हराया हो।

ईरान पर बमबारी की गई, उसके नेताओं को मार डाला गया, उसके बुनियादी ढांचे को भारी नुकसान पहुंचाया गया और उसकी सैन्य क्षमता को कमजोर कर दिया गया। फिर भी, अपनी गरिमा को अक्षुण्ण रखते हुए वह बचा हुआ है। इससे भी ज्यादा अहम यह है कि उसने डॉनल्ड ट्रंप को मजबूर कर दिया है कि वह अपने अहम को बचाते हुए अपने ही द्वारा शुरू किए गए युद्ध से बाहर निकलने का रास्ता खोजें। ईरान ने साबित कर दिया कि तैयारी और जज्बा मारक क्षमता पर भारी पड़ सकते हैं।

ट्रंप ने मानकर युद्ध छेड़ा कि उनकी अचानक ताबड़तोड़ हमले से दुश्मन को सकते में डालने वाली रणनीति से ईरान पस्त हो जाएगा। अमेरिका और इसराइल ने मान लिया था कि ईरान के सर्वोच्च नेता की हत्या करने और उसकी परमाणु और सैन्य सुविधाओं पर हमला करने से वहां की 'सत्ता' ढह जाएगी। लेकिन, उनका अंदाजा एकदम गलत निकला। ईरानी शासन अडिग रहा, मारे गए सर्वोच्च नेता की जगह दूसरे ने ले ली। रिवॉल्यूशनरी गार्ड टुकड़ों में नहीं बंटा। जनता ने भी सत्ता को उखाड़ फेंकने को विद्रोह नहीं किया, बल्कि लोग भारी संख्या में सड़कों पर उतरे और अपने नेतृत्व के प्रति समर्थन जताया। युद्ध से पहले जो सत्ता कमजोर मानी जा रही थी, वह विदेशी आक्रमण के खिलाफ एकजुटता दिखाकर और मजबूत हो गई।

अमेरिका ने पश्चिम एशिया में यह गलती बार-बार दोहराई है- किसी सरकार के प्रति नापसंदगी को यह मान लेना कि लोग विदेशी आक्रमण के लिए पलक-पांवड़े बिछाए बैठे हैं। हो सकता है कि ईरानी उनपर शासन करने वाले धर्मगुरु-वर्ग से नाराज हों; हो सकता है कि वे अपनी आर्थिक मुसीबतों का अंत चाहते हों; लेकिन जब कोई बाहरी ताकत हमला करती है तो राष्ट्रीय ध्वज के प्रति निष्ठा, उनके आपसी मतभेदों पर भारी पड़ जाती है।

अमेरिका और इसराइल ने शायद सोचा होगा कि उनका अभियान इस शासन की कमजोरी को उजागर कर देगा, लेकिन उन्होंने लोगों के हाथ में देशभक्ति की ढाल थमा दी। आंतरिक विरोध और बड़े प्रदर्शनों से जूझ रहे शासन को ईरानी संप्रभुता के रक्षक के रूप में देखा जाने लगा। ईरान में सत्ता विरोध को कलंकित करना अब आसान हो गया है, और कट्टरपंथियों को यह कहने का मौका मिला कि वे तो पहले ही आगाह कर रहे थे कि पश्चिमी ताकतें ईरान के खिलाफ साजिश कर रही हैं।

मोल-भाव की ताकत का संतुलन अब बिल्कुल बदल गया है। युद्ध से पहले वॉशिंगटन ईरान के परमाणु और मिसाइल कार्यक्रम और उसकी नीतियों को लेकर बहुत ज्यादा मांगें कर रहा था। अब ट्रंप ही वह व्यक्ति हैं जो अपने देश के वोटरों के सामने इस युद्ध को एक सफलता के तौर पर पेश करने का तरीका खोजने की मशक्कत कर रहे हैं। वहीं, ईरान अब प्रतिबंधों में राहत, सुरक्षा गारंटी, जब्त संपत्तियों की वापसी और होर्मुज जलडमरूमध्य पर अपने प्रभाव को मान्यता देने की मांग कर रहा है। यह हारे हुए देश का रुख नहीं; यह ईरान के इस यकीन को दिखाता है कि अब जीत उसकी है।

जीत की घोषणा करने की ट्रंप की बेताबी यह हकीकत नहीं छिपा सकती कि युद्ध उनके पक्ष में नहीं जा रहा और इससे उन्हें भारी राजनीतिक, आर्थिक और कूटनीतिक नुकसान उठाना पड़ रहा है। युद्ध ने ऊर्जा महंगी कर दी है, बाजार अस्थिर हैं, सहयोगी नाराज और खाड़ी देशों के साझेदार खौफजदा। अमेरिका में भी राजनीतिक माहौल ट्रंप के खिलाफ हो गया है। मध्यावधि चुनाव नजदीक होने के बावजूद उनकी लोकप्रियता रेटिंग गिर रही है। वह धमकी दे सकते हैं, डींगें मार सकते हैं लेकिन इससे यह हकीकत नहीं बदलती कि ईरान ने घुटने नहीं टेके और उसे बिना लंबे जमीनी आक्रमण के समर्पण के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता, जो न तो अमेरिका चाहता है और न इसका जोखिम उठा सकता है।

इसी कारण तोलमोल में तेहरान भारी है। ईरान को ट्रंप के टाइमटेबल का पता है। वह अमेरिका की घरेलू राजनीति को वॉशिंगटन के मुकाबले बेहतर समझता है। वह देख सकता है कि व्हाइट हाउस को सीजफायर की जरूरत ईरान से कहीं ज्यादा है। युद्ध की आर्थिक लागत ईरान के लिए बहुत अधिक है, लेकिन उसमें इसे सहने की हिम्मत है, क्योंकि वह दशकों से प्रतिबंधों और अलग-थलग रहने के हालात को झेल रहा है।

होर्मुज जलडमरूमध्य अब निर्णायक युद्ध मैदान है। अमेरिका अब भी जहाजों को तबाह कर सकता है, बमबारी कर सकता है लेकिन ईरान ने दिखा दिया है कि वह इस संकरे जलमार्ग को वैश्विक अर्थव्यवस्था को अपने हिसाब से चलाने के जबरदस्त हथियार में बदल सकता है। इस अहम वैश्विक व्यापार मार्ग से गुजरने में रुकावट डालकर या उसे नियंत्रित करके, जहाजों की आवाजाही को धमकाकर और तेल टैंकरों पर अतिरिक्त बोझ डालकर, तेहरान ने दुनिया को याद दिला दिया है कि भूगोल ही असली ताकत है। बेशक खुले समुद्र पर अमेरिका का राज हो, लेकिन धरती के सबसे संवेदनशील ऊर्जा गलियारे पर नियंत्रण ईरान का है।

होर्मुज जलडमरूमध्य को हथियार बनाकर, ईरान ने खेल के नियम ही बदल दिए हैं। खाड़ी के वे राजतंत्र जो खुले व्यापार, स्थिर बाजार और बाहरी सुरक्षा गारंटी पर निर्भर थे, अचानक खतरनाक स्थिति में फंस गए हैं। उनकी आपसी फूट अब और साफ दिखने लगी है, और अमेरिकी सुरक्षा पर उनका लंबे समय से चला आ रहा भरोसा हिल गया है।

निवेशकों ने देख लिया है कि मिसाइलों, ड्रोनों और समुद्री बाधाओं के कारण इस क्षेत्र के वित्तीय केन्द्र कितनी तेजी से अस्थिर हो सकते हैं। एशिया के तेल आयातक देश बेचैनी से हालात पर नजर रखे हुए हैं। दूसरी ओर, यूरोप पश्चिम एशिया में एक और लंबे संघर्ष में उलझने को तैयार नहीं। ईरान ने यह दिखाकर बढ़त हासिल कर ली है कि उसकी रणनीतिक ताकत की अनदेखी का नतीजा क्या हो सकता है।

यही वजह है कि ईरान के इस युद्ध में बचे रहने की गूंज पश्चिम एशिया से बाहर भी है। ग्लोबल साउथ के ज्यादातर हिस्सों में, इस युद्ध को परमाणु अप्रसार या आतंकवाद-विरोधी नजरिये से नहीं देखा जाएगा; बल्कि इसे एक ऐसे मामले के तौर पर देखा जाएगा जिसमें एक महाशक्ति, सैन्य बल के बूते किसी संप्रभु देश का भविष्य तय करने की कोशिश कर रही थी। बेशक, ईरान लोकतंत्र न हो, लेकिन किसी महाशक्ति के सामने उसका अड़ना सराहा जाएगा। 1970 के दशक के वियतनाम की तरह ही, ईरान भी ऐसा आईना बन गया है जिसमें कमजोर देश, किसी कहीं ज्यादा ताकतवर महाशक्ति का मुकाबला करने की संभावना देखते हैं।

सबसे बड़ी विडंबना यह है कि यह युद्ध ईरान को परमाणु क्षमता के और करीब ले जा सकता है। यदि ईरानी नेता इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि भविष्य के हमलों को रोकने का एकमात्र उपाय परमाणु प्रतिरोधक क्षमता ही है, तो इस युद्ध का परिणाम इसके घोषित उद्देश्य के बिल्कुल विपरीत होगा। अमेरिका का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वह सैन्य श्रेष्ठता को रणनीतिक बढ़त समझने की भूल करता रहता है। वह लड़ाइयां जीत सकता है, लेकिन युद्ध हार सकता है। वह अपने विरोधियों को दंडित कर सकता है, लेकिन उन्हें राजनीतिक रूप से और अधिक मजबूत बना सकता है। वह अपनी जीत की घोषणा कर सकता है, फिर भी उसे एक कमजोर स्थिति से बातचीत करने के लिए विवश होना पड़ सकता है।

सत्ता के क्रूर गणित में, इस युद्ध में ईरान ज्यादा मजबूत होकर उभरा है, और अमेरिका उतना मजबूत नहीं रहा जितना ट्रंप मानते होंगे। इस युद्ध की शुरुआत इस भ्रम के साथ हुई थी कि ईरान टूट जाएगा। हो सकता है कि इसका अंत इस सच्चाई को स्वीकार करने के साथ हो कि ईरान से बातचीत ही करनी होगी। ■

फोटोः गेटी इमेजेज

तेहरान में खंडहर बन चुके यहूदियों के पूजास्थल पर ईरान का झंडा लगाता व्यक्ति शायद बताना चाहता है कि मुश्किल समय में भी लोगों का जज्बा बरकरार है

बेशक, ईरान लोकतंत्र न हो, लेकिन किसी महाशक्ति के सामने उसका अड़ना सराहा जाएगा। 1970 के दशक के वियतनाम की तरह ही, ईरान भी ऐसा आईना बन गया है जिसमें कमजोर देश, किसी कहीं ज्यादा ताकतवर महाशक्ति का मुकाबला करने की संभावना देखते हैं

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्सला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

नेहरू के विचार और कर्म में कोई लोचा नहीं

लोकतंत्र की उनकी अनमोल विरासत के दुश्मनों का कुत्सित अभियान खत्म होने को नहीं आ रहा

कृष्ण प्रताप सिंह

जब आप ये पंक्तियां पढ़ रहे हैं, पंडित जवाहरलाल नेहरू को इस संसार से गए 62 साल होने को हैं, फिर भी आधुनिक भारत और उसके लोकतंत्र की उनकी अनमोल विरासत के दुश्मनों (जो दुर्भाग्य से देश की सत्ता पर काबिज होने में सफल हो गए हैं) द्वारा उनके विरुद्ध चलाया जा रहा कुत्सित अभियान है कि खत्म होने को नहीं आ रहा।

अलबत्ता, न वह अब तक सफल हो पाया है और न आगे हो सकने की उम्मीद कर पा रहा है। उलटे उसके चलते देशवासियों, खासकर युवाओं, में उनको नए सिरे से पढ़ने और जानने-समझने का चाव पैदा हो रहा है। यह एक कार्टूनिस्ट के उस कार्टून में भी परिलक्षित होता है, जिसमें उसने नेहरू को यह कहते हुए दिखाया है कि 'अब मुझे लोगों से ज्यादा प्यार मिलने लगा है और मैं इसके लिए नरेन्द्र मोदी को धन्यवाद देता हूं।'

इस 'ज्यादा प्यार' का एक बड़ा कारण नेहरू के विचारों में है तो दूसरा व्यक्तित्व में। पहले उनके व्यक्तित्व की ही बात करें तो उन्होंने स्वतंत्रता संघर्ष के दिनों में कौन कहे (जब उन्होंने अपने जीवन के नौ से ज्यादा साल अंग्रेजों से लड़ते हुए उनकी जेलों में बिताए) स्वतंत्रता के बाद भी (जब वह प्रधानमंत्री पद पर आसीन थे और 'आधुनिक भारत के निर्माता' कहलाने लगे थे) उसे पारदर्शी बनाए रखा। साथ ही कभी खुद को इतने 'ऊंचे' आसन पर बैठाने की गलती नहीं की कि 'सर्वथा अनालोच्य' होकर रह जाएं।

यही कारण है कि उनकी निंदा में गिरावट की किसी भी सीमा तक जाने को तैयार देश के वर्तमान सत्ताधीशों और उनकी पांतों के लिए यह समझना लगातार कठिन बना हुआ है कि आखिर क्यों, उन दिनों, विपक्ष तो विपक्ष, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तक में न नेहरू के आलोचकों की कमी थी और न उनके प्रति नेहरू के आदर-सम्मान में। वह भी तब, जब उनके कई आलोचक मौका पाते ही उनके निंदक का रूप धर लेते थे।

यह नेहरू का ही कलेजा था कि एक कार्टूनिस्ट के कार्टून संग्रह का लोकार्पण करते हुए उन्होंने कहा था कि वह उनके प्रति निर्मम होने से भी परहेज न करे-'डोन्ट स्पेयर मी, मिस्टर कार्टूनिस्ट'।

दूसरा कारण उनके दो टूक विचारों में है, जिनमें कहीं इतना भी लोचा नहीं है कि उनके आलोचकों को उसमें सिर छुपाने की जगह मिल सके। दरअसल, वह अपनी पुस्तकों, भाषणों अथवा व्याख्यानों वगैरह में कहीं भी कोई ऐसी गुंजाइश नहीं रखते कि कोई उनके साथ छल या छद्म बरतकर उन्हें पोच साबित कर सके। उन्होंने यह गुजायश तब भी नहीं रखी, जब आलोचकों की निगाह में 'अपनी विफलताओं को स्वीकार करने की मजबूरी' का सामना कर रहे थे।

यही कारण है कि आजादी के पहले सूर्योदय से पूर्व 14 अगस्त, 1947 की मध्य रात्रि तत्कालीन वायसराय लॉज (अब राष्ट्रपति भवन) में उनके ऐतिहासिक भाषण-'ट्रिस्ट विद डेस्टिनी'-को तो बीसवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ भाषणों में गिना ही जाता है, तब के संबोधनों को भी कमजोर नहीं कहा जाता, जब आजादी के बाद की कुछ तल्ख हकीकतों से रूबरू देश का उल्लास किंचित फीका और उत्साह थोड़ा मंद

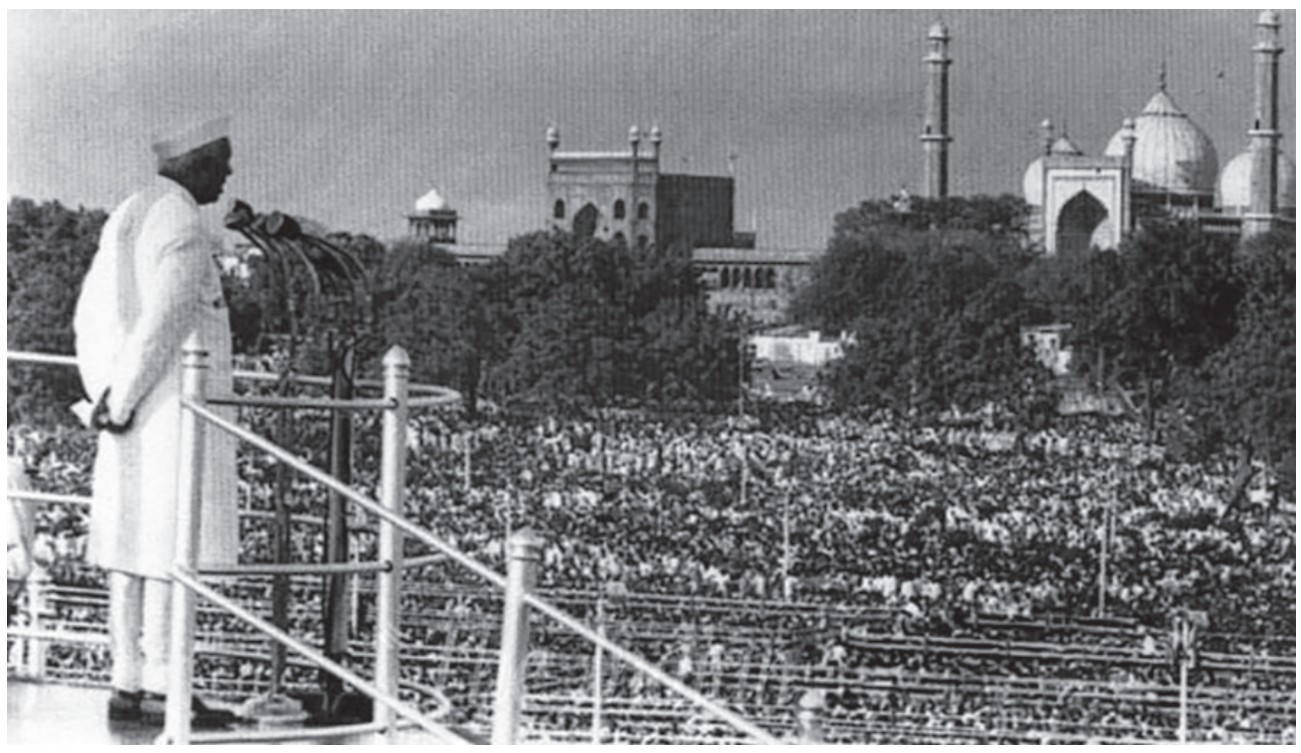

1959 में लाल किले के प्राचीर से देश को संबोधित करते पंडित जवाहरलाल नेहरू

पड़ने लगा था। मिसाल के तौर पर, 1954 के स्वतंत्रता दिवस पर लाल किले से देशवासियों को आईना दिखाते हुए उन्होंने कहा था : हम अभी आजादी के रास्ते पर हैं, यह न समझिए कि मंजिल पूरी हो गई हमें इस देश के एक-एक आदमी को आजाद करना है अगर देश में कहीं गरीबी है तो (मानना होगा कि) वहां तक आजादी नहीं पहुंची। इसी तरह अगर हम आपस के झगड़ों में फंसे हुए हैं, आपस में बैर है, बीच में दीवारें हैं, हम एक दूसरे से मिलकर नहीं रहते, तब भी हम पूरे तौर पर आजाद नहीं हैं. हिन्दुस्तान के किसी गांव में किसी हिन्दुस्तानी को, चाहे वह किसी भी जाति का है, अगर उसको हम चमार कहें, हरिजन कहें, अगर उसको खाने-पीने में रहने-चलने में वहां कोई रुकावट है, तो वह गांव भी आजाद नहीं है, गिरा हुआ है।

इसके चार साल बाद 1958 के स्वतंत्रता दिवस पर लाल किले की प्राचीर से वह कुछ और यथार्थवादी हो उठे थे : यहां मैं आपके सामने किसी एक दल की तरफ से नहीं खड़ा हुआ हूं। एक मुसाफिर की तरह से, आपके हमसफर के रूप में खड़ा हुआ हूं। इस मुल्क के करोड़ों आदमियों से और आपसे यह दरखास्त करने कि जरा हम अपने दिल में देखें, अपने को और औरों को समझाएं कि इस वक्त (आजादी के ग्यारह बरस बाद) लोग आपस में झगड़ा-फसाद करते हैं, एक दूसरे को मारते हैं और एक दूसरे की संपत्ति को जलाते हैं, तो हमारा फर्ज क्या है, हमारा कर्तव्य क्या है?कोई भी पॉलिसी हो, उसमें हम कामयाब एक ही तरह से हो सकते हैं कि हम मिलकर, शांति से, अदम-तशद्दुद से काम करें नहीं तो हमारी सारी ताकत एक दूसरे के खिलाफ जाया हो जाती है। अगर हमारी राय में फर्क है तो हम एक दूसरे को समझाएं, एक दूसरे को अपनाएं। और कोई जरिया नहीं है इस मुल्क में। और कोई तरीका नहीं है।

> वर्तमान सत्ताधीशों और उनकी पांतों के लिए यह समझना कठिन है कि आखिर क्यों, उन दिनों, विपक्ष तो विपक्ष, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तक में न नेहरू के आलोचकों की कमी थी और न उनके प्रति नेहरू के आदर-सम्मान में

इसके दो साल बाद 1960 में उन्होंने लाल किले से कहा था : आजादी की सालगिरह कोई तमाशा नहीं है। यह एक बार फिर से इकरार करने का दिन है-फिर से प्रतिज्ञा करने का, फिर से जरा अपने दिल में देखने का कि हमने अपना कर्तव्य पूरा किया कि नहीं। आजादी की लड़ाई हमेशा जारी रहती है। कभी उसका अंत नहीं होता। हमेशा उसके लिए परिश्रम करना पड़ता है, हमेशा उसके लिए कुर्बानी करनी पड़ती है, तब वह कायम रहती है। जब कोई मुल्क या कौम ढीली पड़ जाती है, कमजोर हो जाती है, असली बातें भूलकर छोटे झगड़ों में पड़ जाती है, उसी वक्त उसकी आजादी फिसलने लगती है।

उन्होंने पूछा था : आजादी किसके लिए आई? क्या चंद लोगों के लिए आई? जवाहरलाल के लिए आई कि उसको आपने चंद रोज के लिए प्रधानमंत्री बना दिया? जवाहरलाल आएंगे और जाएंगे, और लोग भी लेकिन हिन्दुस्तान तो आता ही है, जाता नहीं है और हमेशा रहेगा तो फिर सबके लिए, जो हिन्दुस्तान के 40 करोड़ आदमी हैं, औरते हैं और बच्चे हैं, जो आजादी के हिस्सेदार हैं, वारिस हैं, उसको पूरा फायदा मिले, तब आजादी पूरी होगी।

इससे एक दशक पहले मार्च, 1950 में बेकाबू होती सांप्रदायिकता को लेकर उन्होंने मुख्यमंत्रियों को एक पत्र में लिखा था : हममें से कुछ लोगों की यह फितरत है कि वे भारत के मुसलमानों से देश के प्रति वफादारी साबित करने और पाकिस्तान समर्थक प्रवृत्तियों की निंदा करने की मांग करते हैं। इस तरह की प्रवृत्तियां निश्चित तौर पर गलत हैं और उनकी निंदा की जानी चाहिए। ... मैं समझता हूं कि भारतीय मुसलमानों के वफादारी साबित करने पर बार-बार जरूरत से ज्यादा जोर डालना गलत है। वफादारी किसी आदेश या भय से नहीं पैदा होती। यह वक्त के सहज प्रवाह में अपने आप पैदा होती है और धीरे-धीरे न सिर्फ एक प्रेरक मनोभाव बन जाती है बल्कि व्यक्ति को लगता है कि इसी में उसका भला है। हमें ऐसे हालात बनाने होंगे, जिनमें लोगों के अंदर इस तरह के मनोभाव पैदा हो सकें। किसी भी हाल में अल्पसंख्यकों की निंदा करने और उन पर दबाव बनाने से कोई फायदा नहीं होगा।

'भारतमाता' (उनके दुश्मनों ने अपनी बारी पर जिनकी जय के नारों को लेकर भी कुछ कम विवाद नहीं पैदा किए हैं) की बाबत तो नेहरू ने 1920 में ही कह दिया था कि हम सब भारतमाता का एक-एक टुकड़ा हैं और हमसे मिलकर ही भारतमाता बनती है। जब भी हम भारतमाता की जय बोलते हैं, तो असल में अपनी ही जय बोल रहे होते हैं। जिस दिन हमारी गरीबी दूर हो जाएगी, हमारे तन पर कपड़ा होगा, हमारे बच्चों को अच्छी से अच्छी तालीम मिलेगी, हम सब खुशहाल होंगे, उसी दिन भारतमाता की सच्ची जय होगी। अगर हम ही, जो अंग्रेजी राज में जुल्म गरीबी और भुखमरी का सामना करते हुए अपनी आजादी के लिए लड़ रहे हैं, नहीं होंगे तो इस धरती को भारतमाता कौन कहेगा?

इधर 'जन-गण-मन' और 'वंदेमातरम' में बेवजह के 'मुकाबले' में भी उनको घसीटना चाहने वाले सत्तासीनों की एक बेचारगी यह भी है कि उन्होंने 15 जून, 1948 को इस विषय पर पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री विधानचंद्र राय के पत्र के जवाब में बेलाग-लपेट लिखा था : राष्ट्रगान विजय और उससे मिली संतुष्टि का प्रतीक होना चाहिए, न कि अतीत के संघर्ष का। राष्ट्रगान मुख्य रूप से संगीत है, न कि शब्द. वंदेमातरम् हमारी आजादी की लड़ाई से जुड़ा हुआ है और उसे इसी रूप में सम्मान दिया जाएगा। लेकिन राष्ट्रगान संघर्ष और रिश्ते दिखाने वाली उन चीजों से अलग है, जिनका वंदेमातरम् प्रतिनिधित्व करता है. .. राष्ट्रगान का संगीत ऐसा होना चाहिए जो जोश दिला दे और जिसे संतोषजनक ढंग से सारी दुनिया में बजाया जा सके। इस लिहाज से 'जन गण मन' में एक आदर्श मधुर आरोह-अवरोह है।

इससे भी बड़ी बात यह कि नई दिल्ली में नौ अप्रैल, 1950 को इंडियन काउंसिल फॉर कल्चरल रिलेशंस के स्थापना दिवस समारोह को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था : जब लोग भूखे हों और मर रहे हों तो संस्कृति के बारे में, यहां तक कि ईश्वर के विषय में भी बात करना बेवकूफी है। किसी भी दूसरे विषय पर बात करने से पहले सामान्य मनुष्यों के जीवन की बुनियादी जरूरतें पूरी करना सबसे जरूरी है। आज का इंसान कष्टों, भुखमरी और असमानता को बर्दाश्त करने की मनःस्थिति में नहीं है। विशेषकर जब दिख रहा है कि बोझ बराबर नहीं उठाया जा रहा। कुछ थोड़े से लोग मुनाफा कमाते हैं और बाकी बहुत से लोग केवल बोझ उठाते हैं। ■

भूमंडलीकरण ने बदला हिन्दी पत्रकारिता का चरित्र

इसके भीतर लोकतंत्रीकरण और बाजारवादी संकुचन जैसे परस्पर विरोधी तत्व एक साथ सक्रिय रहे

शैलेन्द्र चौहान

उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण ने केवल अर्थव्यवस्था की संरचना को नहीं बदला, बल्कि समाज की चेतना, संस्कृति और संचार माध्यमों की प्रकृति को भी गहरे स्तर पर प्रभावित किया। हिन्दी पत्रकारिता, जो स्वतंत्रता आंदोलन से लेकर उत्तर-आधुनिक समय तक जनपक्षधरता, वैचारिक प्रतिबद्धता और सामाजिक सरोकारों की वाहक रही थी, इस परिवर्तन से अछूती नहीं रह सकी। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि भूमंडलीकरण ने हिन्दी पत्रकारिता के चरित्र, स्वर और प्राथमिकताओं को बुनियादी रूप से पुनर्गठित कर दिया। यह पुनर्गठन एकरेखीय नहीं था, बल्कि इसके भीतर अवसर और संकट, विस्तार और क्षरण, लोकतंत्रीकरण और बाजारवादी संकुचन जैसे परस्पर विरोधी तत्व एक साथ सक्रिय रहे।

उदारीकरण के तुरंत बाद मीडिया क्षेत्र में पूंजी का तीव्र प्रवेश हुआ। बड़े औद्योगिक घरानों ने समाचारपत्रों और चैनलों में निवेश करना शुरू किया, जिससे पत्रकारिता का पारंपरिक 'मिशनरी' चरित्र तेजी से 'प्रोफेशनल' और अंततः 'कॉरपोरेट' चरित्र में बदलने लगा। उदाहरण के लिए हिन्दी के बड़े अखबार समूह दैनिक भास्कर, दैनिक जागरण, अमर उजाला ने 1990 के दशक के बाद आक्रामक विस्तार रणनीति अपनाई। 'दैनिक भास्कर' का राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ से निकलकर गुजरात, पंजाब और हरियाणा तक विस्तार केवल पाठकीय मांग का परिणाम नहीं था, बल्कि यह एक सुविचारित बाजार रणनीति थी, जिसमें सर्वेक्षणों के आधार पर शहरों में प्रवेश किया गया और विज्ञापन बाजार को ध्यान में रखकर सामग्री का स्वरूप तय किया गया। इसी तरह 'दैनिक जागरण' ने उत्तर भारत में अपनी पकड़ को मजबूत करते हुए छोटे शहरों और कस्बों तक संस्करण शुरू किए। इस विस्तार ने हिन्दी पत्रकारिता की पहुंच को अभूतपूर्व रूप से बढ़ाया, किंतु इसके साथ ही सामग्री का बाजारोन्मुखीकरण भी तीव्र हुआ।

इस दौर में समाचार का मूल्य उसकी सामाजिक उपयोगिता के बजाय उसकी 'विक्रेयता' से निर्धारित होने लगा। खबरें अब 'पब्लिक इंटरेस्ट' की जगह 'कंज्यूमर इंटरेस्ट' के आधार पर चुनी जाने लगीं। इसका एक स्पष्ट उदाहरण 'पेज थ्री' संस्कृति का हिन्दी अखबारों में प्रवेश है, जो मूलतः अंग्रेजी पत्रकारिता की देन थी। महानगरों की पार्टियां, फिल्मी सितारों की गतिविधियां, फैशन शो और ग्लैमर से जुड़े प्रसंग अब हिंदी अखबारों के नियमित हिस्से बन गए। इससे पाठकों के एक नए मध्यवर्गीय वर्ग को आकर्षित किया गया, जो उपभोक्तावादी जीवनशैली की ओर आकृष्ट था। लेकिन इसके परिणामस्वरूप किसान आंदोलनों, श्रमिक संघर्षों, दलित-आदिवासी मुद्दों और ग्रामीण संकट जैसे विषयों का स्थान सीमित होता गया। 2000 के दशक में विदर्भ और मराठवाड़ा में किसानों की आत्महत्याओं का जो व्यापक संकट था, वह राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी मीडिया में अपेक्षाकृत अधिक गंभीरता से उठाया गया, जबकि हिन्दी मीडिया में उसकी कवरेज कई बार सतही या छिटपुट रही, क्योंकि वह विज्ञापन-प्रधान शहरी पाठक वर्ग की प्राथमिकताओं से सीधे नहीं जुड़ता था। भूमंडलीकरण ने समाचार को एक 'उत्पाद' में रूपांतरित कर दिया। मीडिया संस्थान अब 'कंटेंट इंडस्ट्री' का हिस्सा बन गए, जहां संपादकीय निर्णयों पर मार्केटिंग और विज्ञापन विभाग का प्रभाव बढ़ता गया। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' समूह द्वारा शुरू की गई 'मीडियानेट' जैसी पहल, जिसमें समाचार के रूप में विज्ञापन प्रकाशित किए जाते थे, ने इस प्रवृत्ति को संस्थागत रूप दिया। हिन्दी पत्रकारिता भी इससे अछूती नहीं रही। 'पेड न्यूज़' की समस्या 2009 के आम चुनावों के दौरान व्यापक रूप से सामने आई, जब कई उम्मीदवारों के पक्ष में पैसे लेकर खबरें प्रकाशित की गईं। भारतीय प्रेस परिषद ने इस पर चिंता व्यक्त की, लेकिन यह प्रवृत्ति पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकी। यह स्थिति पत्रकारिता की विश्वसनीयता के लिए गंभीर चुनौती बनकर उभरी।

भाषा के स्तर पर भी महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिले। हिन्दी पत्रकारिता की पारंपरिक गंभीर और साहित्यिक भाषा की जगह अधिक सरल, बोलचाल और 'हिंग्लिश' मिश्रित भाषा ने ले ली। यह परिवर्तन आंशिक रूप से पाठकों के विस्तार और संप्रेषणीयता की जरूरतों से जुड़ा था, लेकिन इसके भीतर बाजार की मांग भी सक्रिय थी। विज्ञापन की भाषा और समाचार की भाषा के बीच की दूरी कम होती गई। परिणामतः विचार की गहराई कई बार अभिव्यक्ति की सरलता में खोने लगी। यह वही दौर है जब टीवी समाचार चैनलों — जैसे आज तक, ज़ी न्यूज़, स्टार न्यूज़ (बाद में एबीपी न्यूज़) — ने हिन्दी में 24×7 समाचार प्रसारण की शुरुआत की। 'आज तक' का नारा 'सबसे तेज' केवल तकनीकी दक्षता का संकेत नहीं था, बल्कि यह उस प्रतिस्पर्धी संस्कृति का प्रतीक था, जिसमें खबरों की गति और सनसनी को प्राथमिकता दी गई। इसने प्रिंट मीडिया को भी प्रभावित किया, और अखबारों में 'ब्रेकिंग न्यूज़' जैसी प्रवृत्तियां दिखाई देने लगीं।

> हिन्दी पत्रकारिता जहां जनपक्षधरता और वैचारिक प्रतिबद्धता को खोती दिखती है, वहीं नए पाठक वर्गों तक पहुंचती है और अभिव्यक्ति के नए अवसर भी निर्मित करती है। यह द्वंद्व ही उसकी सबसे बड़ी चुनौती है

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के विस्तार ने हिन्दी पत्रकारिता को दृश्यात्मकता और तात्कालिकता का नया आयाम दिया, लेकिन इसके साथ ही 'इंफोटेनमेंट' की प्रवृत्ति भी बढ़ी। समाचार और मनोरंजन के बीच की सीमाएं धुंधली होने लगीं। अपराध, सेक्स, ज्योतिष, और अंधविश्वास से जुड़े कार्यक्रमों की भरमार ने पत्रकारिता की गंभीरता पर प्रश्न खड़े किए। उदाहरण के लिए कई चैनलों पर 'भूत-प्रेत' या 'रहस्य' से जुड़े कार्यक्रमों को समाचार के रूप में प्रस्तुत किया गया, जो दर्शकों की जिज्ञासा तो बढ़ाते थे, लेकिन वैज्ञानिक दृष्टिकोण और सामाजिक जिम्मेदारी के विरुद्ध जाते थे।

इसके बावजूद यह कहना एकांगी होगा कि भूमंडलीकरण ने केवल नकारात्मक प्रभाव ही डाले। तकनीकी विकास और बाजार के विस्तार ने हिन्दी पत्रकारिता को अभूतपूर्व संसाधन, पहुंच और विविधता भी प्रदान की। इंटरनेट और डिजिटल मीडिया के आगमन ने हिन्दी को वैश्विक मंच दिया। बीबीसी हिन्दी, दैनिक भास्कर डॉट कॉम, जागरण डॉट कॉम, और स्क्रॉल, द वायर हिन्दी जैसे डिजिटल प्लेटफॉर्म ने वैकल्पिक पत्रकारिता के लिए नए रास्ते खोले। सोशल मीडिया ने भी सूचना के लोकतंत्रीकरण में भूमिका निभाई, जहां आम नागरिक भी सूचना के प्रसार में भागीदार बन सकता है। 2011 के अन्ना हजारे आंदोलन और 2012 के निर्भया आंदोलन के दौरान सोशल मीडिया और हिन्दी समाचार प्लेटफॉर्म्स ने व्यापक जनसमर्थन जुटाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह भूमंडलीकरण के उस पहलू को दर्शाता है, जहां तकनीक जनसंचार को अधिक लोकतांत्रिक बनाती है।

फिर भी, इस लोकतंत्रीकरण के साथ फेक न्यूज़, ट्रोलिंग और सूचना की विश्वसनीयता का संकट भी जुड़ा हुआ है। वाट्सएप और फेसबुक जैसे माध्यमों पर अफवाहों का प्रसार कई बार सामाजिक तनाव और हिंसा का कारण बना है। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में डिजिटल साक्षरता की कमी के कारण यह समस्या और गंभीर हो जाती है। इस संदर्भ में पत्रकारिता की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है कि वह तथ्य-जांच और सत्यापन की अपनी परंपरा को मजबूत करे।

दरअसल, 1991 के बाद की हिन्दी पत्रकारिता एक जटिल अंतर्विरोधों से भरी हुई परिघटना है। एक ओर वह बाजार, पूंजी और उपभोक्तावाद के दबाव में अपनी जनपक्षधरता और वैचारिक प्रतिबद्धता को खोती हुई दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर तकनीक और विस्तार के माध्यम से वह नए पाठक वर्गों तक पहुंचती है और अभिव्यक्ति के नए अवसर भी निर्मित करती है। यह द्वंद्व ही उसकी सबसे बड़ी चुनौती है। यदि हिन्दी पत्रकारिता को अपने ऐतिहासिक दायित्व — सत्य की खोज, सत्ता की आलोचना और समाज के वंचित वर्गों की आवाज बनने — को पुनर्स्थापित करना है, तो उसे बाजार के साथ एक आलोचनात्मक दूरी बनाए रखते हुए अपने मूल मूल्यों की ओर लौटना होगा। अन्यथा वह केवल सूचना उद्योग का एक हिस्सा बनकर रह जाएगी, जहां शब्दों की चमक तो होगी, लेकिन अर्थ की गहराई खो जाएगी। ■

'मैं वह अक्षम्य खालीपन भरना चाहती थी'

अपने उपन्यासों और कहानियों के जरिये एक सर्वकालिक सशक्त आवाज **महाश्वेता देवी (1926–2016)** का यह जन्म शताब्दी वर्ष है। उनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता, सामाजिक सक्रियता और सबसे बढ़कर, उनके साहित्यिक सरोकार आज भी हमारे आसपास के यथार्थ पर सोचने को प्रेरित करते हैं। मैगसेसे और ज्ञानपीठ जैसे कई प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित महाश्वेता की रचनात्मकता ही थी, जिसने 'हजार चौरासी की मां' जैसी कृति को जन्म दिया और जो नाट्य मंचनों के साथ-साथ गोविंद निहलानी की फिल्म का आधार भी बनी। मानव विज्ञान के पूर्व प्रोफेसर **सुभोरंजन दासगुप्ता** की कई मौकों पर उनके साथ बातचीत हुई। एक अप्रकाशित बातचीत के कुछ अंश:

फोटो: गेटी इमेजेज

अपनी पहली ही किताब 'झांसीर रानी' (झांसी की रानी-1956) में, आपने जीवनी का वह पारंपरिक स्वरूप त्याग दिया, जिसमें उनकी शायद एक रूमानी शख़्सियत उभारने का अवसर था!

हां, मैंने नई जमीन तोड़ी। मेरी किताब प्रचलित अर्थों में कोई जीवनी-परक उपन्यास नहीं थी। मैंने उस क्षेत्र में और आम लोगों, खासकर ग्रामीणों की कल्पनाओं में रची-बसी गहन ऐतिहासिक खोज पर भरोसा किया। स्थानीय गाथाओं-लोककथाओं का अध्ययन किया, ऐसे लोगों से बातचीत की, जिन्होंने पीढ़ियों से चली आ रही रानी की छवि उभारने को अपनी स्मृतियां खंगालीं। उसी खोज का नतीजा था कि रानी केन्द्रित एक 'मानवीय इतिहास' सामने आया।

बाद की उत्कृष्ट कृतियों, 'अरण्येर अधिकार' (जंगल का अधिकार, 1977) और 'तितुमीर' (1998) लिखते समय भी आप उसी प्रविधि का अनुपालन करती दिखती हैं?

हां, मैंने ऐतिहासिक उपन्यास का एक ऐसा रूप रचने की कोशिश की, जिसमें सारा जोर उन दमित-शोषित लोगों के विद्रोह पर हो। वह बंगाल के महान मुस्लिम किसान-विद्रोही तितुमीर के नेतृत्व में हुआ हो, या झारखंड (तत्कालीन बिहार) में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में।

मानती हूं कि 'अरण्येर अधिकारी' के प्रति मेरे अंदर खास लगाव है, क्योंकि उसमें मैंने दो परतें आपस में गूंथने की कोशिश की है- दस्तावेजीकरण और बेधड़क संघर्ष। हमें मानना होगा कि हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के पारंपरिक इतिहास-लेखन में संथालों को वह सम्मान नहीं मिला जिसके वे, निर्मम औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध अपने विद्रोह के कारण, हकदार थे। मैं वह अक्षम्य रिक्ति भरना चाहती थी। इसमें जिस चीज ने मेरी सबसे ज्यादा मदद की, वह थी क्षेत्र की मेरी प्रत्यक्ष जानकारी और वहां के स्थानीय लोगों के साथ गहरा जुड़ाव। एक बार फिर, उनकी स्मृतियों, लोक-गाथाओं-संक्षेप में कहें तो, अतीत के उनके बहुआयामी स्मरण ने मेरी कथा को 'मानवीय' बनाया।

शायद आप हमारे समय की एकमात्र ऐसी भारतीय लेखक हैं, जिन्होंने पूरी चेतना के साथ उस ग्रामीण-आदिवासी जीवन में प्रवेश किया, जो हर कदम शोषण, छल और गरीबी का शिकार थे, लेकिन इतने जीवंत। यह किसी शहरी बुद्धिजीवी का यदा-कदा किया जाने वाला प्रयास नहीं, जीवन भर का जुनून था। इसे कैसे व्याख्यायित करेंगी?

मैं इसे समझा नहीं सकती। बस इतना ही कि मैंने एक चुनाव किया। मुख्यधारा को नजरअंदाज कर उन्हें चुना। गंगा-जमुना के पास नहीं गई, उन अनजान पहाड़ियों और नदियों की ओर गई। जानते हैं, मुझे वहां क्या मिला? आदिवासियों और जनजातियों के प्रति मेरे मन में जैसा गहरा सम्मान और प्रेम उपजा, अद्भुत था। पूरी ईमानदारी से कहना चाहूंगीः हमारे देश का जनजातीय समाज उन लोगों की तुलना में कहीं अधिक सभ्य, ज्ञानी और परिष्कृत है, जिनकी हमारे महानगरों में भीड़ है। मैं तो उनसे प्रेरणा लेने गई थी।

इस प्रक्रिया में लोधा, सबर और अन्य आदिवासी समुदायों के साथ आपका बहुत करीब जुड़ाव हुआ। क्या इससे आपका काम प्रभावित हुआ?

भला रचनात्मकता के असली मोल को उसकी मात्रा से कौन मापता है? शहरी परिवेश के जाने कितने लेखक हर साल मध्यम वर्ग के संघर्षों और मुश्किलों पर हजारों किताबें लिख रहे हैं। क्या हम इसे भुला नहीं देते?

इसके विपरीत, मेरी सामाजिक सक्रियता ने न सिर्फ मेरे अनुभव समृद्ध किए, उसे ठोस और अस्तित्वगत रूप देते हुए मेरी प्रतिबद्धता के मूल को परिभाषित किया है। इस बहुमूल्य अनुभव में मिथकों, किंवदंतियों, लोककथाओं और सामूहिक स्मृति के आह्वान की अनेक परतें हैं। सूत्र रूप में कहें तो, यह 'जादुई यथार्थवाद' है। जब आप 'बुधानी एकटी रात कहानी' (बुधन- एक रात की कहानी, 2001) पढ़ते हैं, तो आप इस जादुई यथार्थवाद की गहनता का सामना करते हैं। या, जब आप 'बशाई टुडू' (1978) पढ़ते हैं, जो एक ऐसे नक्सली की कहानी है, जो हर उस मुठभेड़ के बाद चमत्कारिक रूप से फिर जीवित हो उठता है, जिसमें उसका शरीर गोलियों से छलनी हो जाता है।

क्या समकालीन बंगाली साहित्य में आप अकेली हैं, जिसने अपने साहित्य में 'धरती के सबसे वंचितों' के स्वर को लिपिबद्ध किया?

मैं यह गलतफहमी दूर करना चाहूंगी, कि हाशिये पर पड़े और निचले तबके के लोगों पर सिर्फ मैंने ही ध्यान दिया है। पश्चिम बंगाल में देबेश रॉय और अमिया भूषण मजूमदार जैसे अपेक्षाकृत कम लोकप्रिय लेकिन सशक्त उपन्यासकारों ने भी संत्रास ग्रस्त क्षेत्र को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है। देबेश रॉय का शानदार उपन्यास 'तीस्तापारेर वृत्तांत' (तीस्ता के किनारों की कहानी, 1988) वंचितों, उनकी तकलीफों, उनके संघर्षों को समर्पित है।

इसी तरह, बांग्लादेश में हसन अज़ीज़ुल हक़, जो शायद हमारे समय के सबसे सशक्त कथाकार हैं, शौकत अली जैसे उपन्यासकार, और सबसे बढ़कर अख़्तारुज़्ज़मान इलियास ने कस्बों और गांवों में समाज के सबसे निचले तबके में जीने को अभिशप्त लोगों की वंचना और उनके प्रतिरोध को विद्रोही तेवर के साथ उजागर किया है। मैं इलियास को मानिक बंदोपाध्याय के बाद हमारे दौर का सबसे महान उपन्यासकार मानते हुए उन्हें सलाम करना चाहूंगी। उन्होंने सिर्फ दो उपन्यास लिखकर ही दोनों बंगालों में यह अनुकरणीय दर्जा हासिल किया है। इलियास ने साबित कर दिया कि अहमियत संख्या की नहीं, गुणवत्ता, समर्पण और प्रतिबद्धता की होती है।

हमारा साहित्यिक आंदोलन, सीमित भले रहा हो, दृढ़ था, और उसे वह पहचान भी मिली जिसका वह हकदार थाः जाने-माने निर्देशकों ने हमारा लिखा, दिल को छू लेने वाले नाटकों और फिल्मों में बदला है। हमने कभी तालियों की चाहत नहीं पाली, फिर भी उषा गांगुली द्वारा 'रुदाली' का शानदार नाट्य रूपांतरण, वह भी हिन्दी में, पश्चिम बंगाल में मील का पत्थर बन गया। इलियास की 'खोवाबनामा' (स्वप्न-गाथा) और 'चिलेखोथार शेपाई' (अटारी का पहरेदार) जैसी महाकाव्यात्मक रचनाएं, ढाका और कोलकाता में उत्साह से मंचित हुईं। मेरी रचना 'हजार चौरासीर मां' (1084 की मां) गोविंद निहलानी को ऐसी लगी कि वह दिल को छू लेने वाली हिन्दी फिल्म 'हजार चौरासी की मां' (1998) बनाने को प्रेरित हुए। संक्षेप में कहें तो, शोषित और हाशिये पर धकेल दी गई 'सबऑल्टर्न' जमात को वह पहचान मिली जिसके वे हकदार थे; यह एक गंभीर और गरिमामय स्वीकृति थी, जो न तो सस्ती थी और न ही भदेस।

> हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के पारंपरिक इतिहास-लेखन में संथालों को वह सम्मान नहीं मिला जिसके वे हकदार थे। मैं वह अक्षम्य रिक्ति भरना चाहती थी। इसमें जिस चीज ने मेरी सबसे ज्यादा मदद की, वह थी क्षेत्र की मेरी प्रत्यक्ष जानकारी और स्थानीय लोगों से गहरा जुड़ाव

आप खांटी वामपंथी हैं। आपको कैसा वामपंथ पसंद है? किसी खास पार्टी से गहरा जुड़ाव महसूस करती हैं?

आपने एक नाज़ुक और मुश्किल सवाल पूछा है, लेकिन जवाब जरूर दूंगी। आप जानते हैं कि मैं एक जाने-माने वामपंथी, या यूं कहें कि कम्युनिस्ट परिवार से आती हूं। मेरे पिता मनीष घटक (उपनाम 'जुबनाश्व') एक विद्रोही कवि थे। मेरे चाचा फिल्मकार ऋत्विक घटक की मार्क्सवाद के प्रति निष्ठा पर कुछ कहने की जरूरत नहीं। और मेरे पहले पति, मशहूर नाटककार बिजन भट्टाचार्य ने तो इप्टा (इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन) के स्वर्णिम दौर में 'नबन्ना' (1944) लिखकर बांग्ला नाटकों के एक नए आंदोलन की शुरुआत ही की।

जब कभी इस पृष्ठभूमि पर सोचती हूं, लगता है हमारे आधिकारिक कम्युनिस्ट आंदोलन हमारे देश और समाज के ज्वलंत सवालों का समाधान करने में विफल रहे। वे अति 'संसदीय' हो गए, और यही वह प्रवृत्ति थी जिसने मुझे 'बशाई टुडू' और 'हज़ार चौरासी की मां' लिखने को प्रेरित किया; ऐसी रचनाएं जो सरकारी तंत्र की क्रूरता को बिना किसी मुरव्वत बेनकाब करती हैं। क्या इसका यह अर्थ निकाला जाए कि मैं उग्रवादी, नक्सलवादी आंदोलन को ही एकमात्र समाधान मानती हूं? बिल्कुल नहीं। मैं सरकार की क्रूरता उजागर करते हुए एक ऐसी व्यवस्था चाहती हूं जो हताश युवाओं को हथियार उठाने को मजबूर न करे।

मैंने स्वयं संवैधानिक रास्ता अपनाते हुए कई उग्रवादियों की मृत्युदंड का विरोध किया है। राष्ट्रपति को लिखे अपने पत्र में मेरी अपील स्पष्ट थीः 'बुद्ध, महावीर और गांधीजी की इस धरती पर, ऐसा कभी न कहा जाए कि हमारे दिलों में दया के लिए जगह नहीं है।' मैं आज भी एक वामपंथी हूं- एक कट्टर वामपंथी। मैं आज भी मानवीय और सामाजिक मुक्ति के लिए उचित मार्ग की तलाश में हूं।

और यह जिस मुक्ति की आकांक्षा है, वह अनिवार्य रूप से उस प्रताड़ित और पीड़ित भारतीय स्त्री की मुक्ति पर केन्द्रित है। मेरा आशय 'रुदाली' (1979) और 'गोहुमनी' (1993) जैसे पात्रों से है...

बेशक, औरतें अर्ध-सामंती और पितृसत्तात्मक ज़ुल्म के खिलाफ लड़ती हैं, खासकर गांवों में, क्योंकि उन्हें जीना है और जीतना है। जीना- सिर्फ गुजारा करना नहीं। गोहुमनी के लिए मेरे दिल में एक खास जगह है। हालांकि 1976 में कानून बनाकर बंधुआ मजदूरी खत्म कर दी गई थी, लेकिन पलामू में यह जारी रही। 1979-80 में, जब बंधुआ मजदूरों ने अपनी लड़ाई शुरू की, तो मैं भी उनके साथ हो गई। गोहुमनी उसी जमीनी अनुभव और संघर्ष का नतीजा है।

सबसे ज्यादा हैरानी किस बात से होती है?

आप जानते हैं, मैंने बिना लाग-लपेट के सत्ता में बैठे लोगों के खिलाफ आवाज उठाई है। मसलन, नंदीग्राम त्रासदी के दौरान मैंने माकपा शासन का पुरजोर विरोध किया था। लेकिन फिर भी, जाने क्यों, सत्ता में बैठे लोगों ने मुझे ही अपने देश की आवाज के तौर पर चुना। क्यों? मुझसे 2006 के फ्रैंकफर्ट बुक फेयर में भारतीय प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व करने का अनुरोध किया गया था, जहां भारत को 'साझीदार देश' के तौर पर सम्मानित किया गया था। आप जानते हैं, अपने उद्घाटन भाषण में मैंने क्या कहा था? "मेरा देश-बिखरा, टूटा-फूटा, गौरवशाली, सुंदर, गर्म, नम, सर्द, रेतीला-मेरा देश।" ■

सार्वभौमिक मताधिकार से चुने हुए मतदाताओं तक

क्या हम जान-बूझकर उस चुनावी व्यवस्था को तोड़ रहे हैं, जिसने अब तक ठीक काम किया है?

आकार पटेल

फोटो: गेटी इमेजेज

अगर लाखों की संख्या में लोगों को मताधिकार से ही वंचित कर दिया जाएगा, तो चुनाव का मतलब ही क्या रह जाएगा

आजकल किसी बेघर व्यक्ति को अपना पता कहीं लिखना होता है तो उसके लिए, बीएलओ (बूथ लेवल अधिकारी) दिए गए पते पर रात में जाकर यह पता लगाएगा कि क्या वह बेघर व्यक्ति सचमुच उसी जगह सोता है, जिसे उसने अपना पता बताया है... अगर बीएलओ यह पक्का कर लेता है कि वह बेघर व्यक्ति सचमुच उसी जगह सोता है, तो उसे रहने की जगह का कोई दस्तावेज़ी सबूत देने की ज़रूरत नहीं होगी।' (बूथ लेवल अधिकारियों के लिए हैंडबुक, भारत निर्वाचन आयोग 2011)।

25 सितंबर 1948 के प्रेस नोट में 'मतदाता के रूप में शरणार्थियों के अधिकारों' और मतदाता सूचियों में उनके नाम शामिल करने के निर्देशों के बारे में विस्तार से बताया गया था। प्रेस समय-समय पर 'मतदाता सूचियों की तैयारी में प्रगति' शीर्षक के तहत पूरे देश से जुड़ी खबरें प्रकाशित करता रहा। इसमें बताया गया कि पूर्वी पंजाब सरकार ने मतदाता सूचियों को पूरा करने की अंतिम तिथि बढ़ाकर 31 अक्तूबर 1948 कर दी, ₹क्योंकि बड़ी संख्या में लोगों ने अभी तक अपना पंजीकरण नहीं करवाया था।₹

ऊपर लिखे वाक्यांश ऑर्नेट शानी की किताब 'हाउ इंडिया बीकेम डेमोक्रेटिकः सिटीजंस एंड मेकिंग ऑफ दि यूनीवर्सल फ्रेंचाइज' से लिए गए हैं। इसका मकसद यह दिखाना है कि दशकों से, जब भी मतदाताओं और उनके अधिकारों की बात आई है, तो भारतीय राज्य का मुख्य जोर समावेश पर ही रहा है। यहां सरकार का एक और निर्देश दिया गया हैः ₹किसी पेढ़ी या दुकान में सोने वाले लोग, या किसी होटल के मचान पर सोने वाले नौकर, उन इलाकों की मतदाता सूची में शामिल होने के हकदार होंगे।₹ घरेलू नौकर, जो आम रास्तों या पीछे के रास्तों, बालकनियों या सीढ़ियों पर सोते हैं, वे भी शामिल किए जाने के पात्र हैं।

लगभग 25 साल पहले, एक पाकिस्तानी चैनल पर उनके मशहूर पत्रकार नजम सेठी ने मनोहर सिंह गिल का इंटरव्यू लिया था। गिल उस समय भारत के मुख्य चुनाव आयुक्त के पद से नए-नए रिटायर हुए थे और चर्चा इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन के इस्तेमाल को शुरू करने के बारे में थी। उस समय इस मशीन को बहुत ज्यादा पेचीदा और इस्तेमाल करने में डरावना माना जाता था। इसे परखने के लिए, गिल और उनकी टीम इसे एक सब्ज़ी मंडी में ले गए। उन्होंने देखा कि मंडी में मौजूद लोग अपने प्रयोग के दौरान इसका इस्तेमाल कैसे करते हैं और उन्हें वही बात पता चली जो आज हम सभी जानते हैंः कि इसका इस्तेमाल करना बहुत आसान है।

इससे भारत के चुनावी इतिहास का वह दौर खत्म हो गया, जब चुनाव अक्सर विवादों में रहते थे और उनमें गड़बड़ियों के आरोप लगते थे (जिसे उन दिनों 'बूथ-कैप्चरिंग' कहा जाता था)। अब हमें ऐसी बातें सुनने को नहीं मिलतीं, क्योंकि मतदाताओं को शामिल करने के मामले की तरह ही, सरकार और चुनाव आयोग का ध्यान भी मतदाताओं के अधिकारों और उनके लिए मतदान को आसान बनाने पर केन्द्रित था।

अब वह दौर खत्म हो चुका है। वह ध्यान भी अब खत्म हो गया है।

सरकार और चुनाव आयोग अब लोगों को मतदाता सूची से बाहर करने पर तुले हुए हैं, और वे ऐसा करने में सफल भी रहे हैं। हाल ही में लाखों बंगालियों के नाम वोटर लिस्ट से हटाए जाने को सुप्रीम कोर्ट की मंजूरी मिल गई है, और अब दूसरे राज्यों में भी ऐसा ही किया जाएगा। जिन योग्य वोटरों के नाम गलती से हटा दिए गए हैं, वे अपील कर सकते हैं और शायद बाद में अपने नाम फिर से जुड़वा पाएं, लेकिन इस बार वे वोट नहीं डाल पाए।

कई लोगों को यह एक अवैध चुनाव लगता है, और इसी वजह से हमने उस भारतीय दौर को पीछे छोड़ दिया है, जहां राजनीतिक दल, और विशेष रूप से वे दल जो चुनाव हार गए थे, चुनाव नतीजों को और चुनाव प्रक्रिया को निष्पक्ष और स्वतंत्र मानते हुए स्वीकार कर लेते थे। लाखों लोगों के लिए इससे जुड़े और भी कई मुद्दे सामने आए। 13 मई की एक खबर की हेडलाइन थीः ₹एसआईआर में जिन लोगों के नाम कट गए हैं, उन्हें सरकारी योजनाओं का लाभ नहीं मिलेगा—बंगाल सरकार का बयान; बिहार के मुख्यमंत्री ने बैंक पासबुक रद्द करने की बात कही।₹ लेकिन आज हमें उस विषय पर जाने की जरूरत नहीं है।

हम जान-बूझकर एक ऐसी चुनावी व्यवस्था को क्यों तोड़ रहे हैं, जिसने अब तक ठीक से काम किया है? इसका कोई जवाब नहीं है; और इस बेतुके आरोप के समर्थन में न तो कोई डेटा है, और न ही कभी रहा है, कि यहां विदेशी लोग वोट डाल रहे हैं। असम में एनआरसी की उस भयानक प्रक्रिया की तरह जो वहां की तत्कालीन सरकार के एक किसी सटीक या काम आने वाले डेटा के बिना, हड़बड़ी भरे बयान के साथ शुरू हुई थी, इससे हमने भी यह मान लिया है कि कोई तो समस्या मौजूद है, और हम उसे सबसे कठोर तरीकों से हल करने पर अड़े हुए हैं।

इसका उस राष्ट्र पर असर पड़ेगा, जिसकी सरकार इसे 'लोकतंत्र की जननी' कहती है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि भारत ने अब 'सार्वभौमिक मताधिकार' शब्द के अर्थ को ही कमजोर कर दिया है।

शानी अपनी किताब की शुरुआत इन शब्दों से करती हैं, जो आज के दौर पर सोचने-विचारने के लिए प्रेरित करते हैंः

> आज की सरकार और चुनाव आयोग लोगों को बाहर करने पर तुले हुए हैं, और वे इसमें सफल भी रहे हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि भारत ने अब 'सार्वभौमिक मताधिकार' शब्द के अर्थ को ही कमजोर कर दिया है

"नवंबर 1947 से, भारत ने वयस्क मताधिकार के आधार पर पहली मसौदा मतदाता सूची तैयार करने का काम शुरू किया। संविधान सभा के सचिवालय में मुट्ठी भर नौकरशाहों ने इस काम की शुरुआत की। उन्होंने यह काम ऐसे समय में किया, जब भारत और पाकिस्तान के बंटवारे के कारण देश का भूभाग और लोग अलग-थलग पड़ रहे थे, और जब 552 स्वतंत्र रियासतों को अभी भारत में मिलाया जाना बाकी था। अगले दो वर्षों में, अनेक बाधाओं के बावजूद—और संविधान लागू होने के साथ ही नागरिकों का दर्जा मिलने से पहले—सभी वयस्क भारतीयों को मतदाता बनाना, एक जबरदस्त कल्पनाशक्ति थी।"

"ऐसा करना भारत का उपनिवेशवाद-मुक्ति का एक स्पष्ट कदम था। यह औपनिवेशिक शासन की कोई विरासत नहीं थीः भारतीयों ने अपने लिए सार्वभौमिक मताधिकार की कल्पना की, उस कल्पना को साकार करने के लिए कदम उठाए, और उसे अपनी राजनीतिक वास्तविकता बना दिया। 1949 के अंत तक, भारत ने दुनिया की लोकतांत्रिक कल्पना की सीमाओं को पार कर लिया और अपने सबसे बड़े लोकतंत्र को जन्म दिया।" ■

अपनी कहानी खुद लिखने वाली औरतें

'बड़ी आई पत्रकार' एक ऐसे अखबार खबर लहरिया की कहानी है जो महिलाओं द्वारा, महिलाओं के बीच से निकला लेकिन सिर्फ महिलाओं के लिए नहीं था

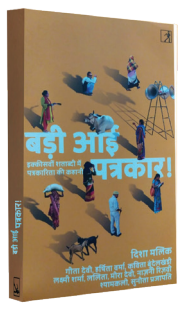

नई किताब

बड़ी आई पत्रकार: इक्कीसवीं सदी में पत्रकारिता की कहानी

प्रकाशक साइमन एंड शूस्टर इंडिया (Simon & Schuster India)

कीमत 399 रुपये

खबर लहरिया होने और लोकल समाचार देने की हमारी कहानी, नब्बे के दशक के भारत में शुरू हुई। यह वह जमाना था, जब दुनिया छोटी हो रही थी, और 'विकास' के लिए संसाधन और नए विचार आ रहे थे। हम उस माहौल में पनपे, जहां औरतों को घर से निकालकर, जिंदगी में कुछ करने का मौका देने वाली योजनाएं बन रही थीं। मिसाल के तौर पर, महिला समाख्या कार्यक्रम और संविधान का 73वां संशोधन। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के बाद शुरू हुए महिला समाख्या कार्यक्रम ने वयस्क महिलाओं को सशक्त करने वाली शिक्षा का रास्ता दिखाया। हमने खबर लहरिया की शुरुआत चित्रकूट में की थी। वहां ये प्रोग्राम चल रहा था। इस प्रोग्राम से हमें ऐसी शिक्षा मिली, जो सत्ता के ढांचों पर सवाल उठाती थी। यहां हमें स्थानीय तौर पर मिलजुलकर पढ़ने-लिखने और चीजों को जानने का मौका मिला।

1992 में संविधान का 73वां संशोधन आया, जिसने गांव की पंचायतों में औरतों के लिए एक-तिहाई जगह आरक्षित की। भले ही आजाद भारत में औरतों को वोट का हक हमेशा था, लेकिन इस कानून ने गांवों में औरतों के लिए चुनाव लड़ने का रास्ता खोला। इससे लिंग और जाति जैसे ढांचे हिले, जो समाज के पुराने ढर्रे को बनाए रखना चाहते थे। महिलाओं के शरीर, मेहनत और आवाज पर अब सिर्फ उनके घरवालों का कब्जा नहीं था।

खबर लहरिया की शुरुआत उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में नब्बे के दशक में महिला समाख्या कार्यक्रम के अंतर्गत चलने वाले महिला शिक्षण केन्द्र से हुई, जहां वयस्क महिलाएं रहकर पढ़ना लिखना सीखती थीं। वहां औरतों के साथ वर्कशॉप में एक ब्रॉडशीट बनाया गया और गांवों में बांटा गया। यह जल्दी ही हिट हो गया। यह स्थानीय भाषा बुंदेली में पहला और इकलौता ऐसा अखबार था, जो दूर-दराज के ग्रामीण जीवन को केन्द्र में रखता था और उनकी रोजमर्रा की कहानियों को तरजीह देता था और इसे महिलाओं ने बनाया था। जब इस अखबार को बनाने वाली महिलाओं ने इसे बेचना और इसकी कीमत तय करना शुरू किया, तो यह अखबार कोई बहुत जरूरी चीज बनता गया। यह साक्षरता सीखने-सिखाने का एक तरीका भर नहीं रहा। हमें भी यह समझ आ रहा था कि बाहर की दुनिया में भी इसकी जरूरत है। देहाती, अनपढ़ महिलाएं एक अखबार बेच रही थीं! वे अपने घरों से निकलकर, जीपों में सवार होकर, नदियों को पार करके, लोगों को इसे खरीदने और पढ़ने के लिए प्रेरित करती थीं और लोग इसे खरीदते थे। इससे एक स्थाई स्थानीय अखबार का खयाल उपजा, जो 2002 में खबर लहरिया बना।

> खबर लहरिया का मकसद था उन लोगों की नजर से गांव की खबरें सबके सामने लाना, जिन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया था और जिनकी आवाज को कोई सुनता ही नहीं था। यह इकलौता ऐसा अखबार बन गया, जो गांव की जिंदगी को बारीकी से दिखाता था

खबर लहरिया का मकसद था उन लोगों की नजर से गांव की खबरें सबके सामने लाना, जिन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया था और जिनकी आवाज को कोई सुनता ही नहीं था। हम इसके लिए एकदम सही जगह पर थे। उत्तर प्रदेश देश का सबसे बड़ा राज्य है, जहां सबसे ज्यादा सांसद हैं। यहां की आबादी घनी है और शहरों से लेकर छोटे-छोटे गांवों तक जाति, वर्ग और लिंग के नियम सख्ती से माने जाते हैं। बांदा, जहां बुंदेलखंड है, यूपी की दक्षिणी सीमा पर है। पथरीले, सूखाग्रस्त और गरीबी के इतिहास वाले अविकसित बुंदेलखंड में सनसनीखेज अपराध आम थे, लेकिन पंचायत के लोकतांत्रिक ढांचे की आड़ में चलने वाले जमींदारी तंत्र की राजनीति को बाकी अखबारों में जगह नहीं मिलती थी। उस समय के अखबार भरे-भरे होते थे और ऐसी जटिल भाषा में छपते थे, जो कोई बोलता या पढ़ता नहीं था (खासकर उन जिलों में जहां साक्षरता दर बहुत कम थी), और उनमें से ज्यादातर में दूर के शहरों की कहानियां होती थीं, जिनका गांव वालों की रोज की जिंदगी से कोई लेना-देना नहीं होता था। ये अखबार बड़े व्यवसायों, राजनेताओं या ऊंची मानी जाने वाली जातियों के मालिकों के हाथों में थे और एक बड़े पैमाने पर अभी भी हैं।

खबर लहरिया की टीम जिसने न केवल अखबार निकाला बल्कि कई पुरस्कार भी जीते

खबर लहरिया इकलौता ऐसा अखबार बन गया, जो गांव की जिंदगी को बारीकी से दिखाता था। इसे उन महिलाओं ने लिखा और बांटा, जो इन गांवों से थीं और वहां के जीवन, मेहनत, हिंसा और संस्कृति को सबसे अच्छे से जानती थीं। ये उस जबान में लिखा जाता था, जो हम बोलते थे, हमारे पड़ोसी बोलते थे और हमारे गांव के मुखिया, पंचायत के सचिव और अफसर भी बोलते थे। शुरुआत में कुछ लोगों को इसे देखकर हंसी आती थी, लेकिन फिर वे भी इसके ग्राहक बने। पढ़-लिख न पाना कोई रुकावट नहीं थी, गांव के चबूतरे पर लोग इसे नाटकीय अंदाज में जोर-जोर से पढ़ते; स्कूल जाने वाले बच्चे रसोई में काम करती अपनी मांओं को इसे पढ़कर सुनाते।

ग्रामीण महिलाओं की नजर और भाषा के साथ, यह अखबार ग्रामीण जीवन को समझने का ऐसा नजरिया लाया, जो किसी 'मुख्यधारा' अखबार के पास नहीं था। यह अखबार बताता था कि क्यों कलावती का रोटी बनाते वक्त 'अचानक' आग से जल जाना संदिग्ध था; क्यों गंगाराम तिवारी, जिसके पास तीन भैंसें, 10 बीघा जमीन और सरकारी नौकरी थी, को गरीबों की आवास योजना में तुरंत मकान मिल गया, लेकिन भूमिहीन, बीमार अहिरवार कल्लू की अर्जी सालों तक अटकी रही; क्यों तबस्सुम को अपनी छोटी-सी विधवा पेंशन बैंक से नहीं मिल पा रही थी; क्यों स्थानीय स्ट्रिंगर राजू (उर्फ अब्बास), जो स्थानीय प्रशासन की तारीफ में लेख लिखता था, के घर में गांव के बाकी लोगों से ज्यादा आधुनिक सुविधाएं थीं।

और क्योंकि यह अखबार उस भाषा में निकलता था, जो न सिर्फ सार्वजनिक जगहों पर, बल्कि घरों, खेतों, ईंट भट्टों, कुओं, पंचायत भवन और तालुका कार्यालय में बोली जाती थी, लोग इसका बेसब्री से इंतजार करते थे। यह उनके दिलों को छूता था, और इसे पढ़ने में उन्हें मजा आता था। अगर इसने कुछ लोगों को गुस्सा दिलाया, तो इसने गांव वालों में भरोसा भी बनाया, जो पहली बार अपनी हकीकत को किसी अखबार में देख रहे थे। स्थानीय प्रशासन ने भी उन जगहों पर जाने के लिए हमारी मेहनत को सराहा, जहां बाकी लोग जाने से कतराते थे।

खबर लहरिया का मूल सिद्धांत और हमारा 'ब्रांड' थाः आपकी खबर, आपकी भाषा में। यह किसी खास समूह से जुड़ा मीडिया नहीं था। यह ऐसा मीडिया था, जो जाति की जटिल और बदलती राजनीति सहित हमारी कई अलग-अलग पहचानों के अंतर्विरोधों और तनावों को न्यूजरूम में लाने की कोशिश करता था। हम एक ग्रामीण अखबार थे, जिसे ऐसी महिलायें चलाती थीं, जिन्हें सार्वजनिक ज्ञान सृजनकर्ता के रूप में नहीं देखा जाता था, लेकिन जो ग्रामीण उत्तर भारत के जीवन तंत्र को अपनी नजर और भाषा में बयान कर सकती थी। उस दौर में मीडिया में सिर्फ ऊंची मानी जाने वाली जाति के रसूख वाले पुरुष स्ट्रिंगर ग्रामीण खबरें, चैनलों और अखबारों को एहसान जैसे देते थे। हमने सूखे की मार वाले इलाके में गरीब, हाशिये पर रहने वाली औरतों को ढूंढा, जिन्हें नौकरी चाहिए थी और जिनमें खबरों की समझ थी।

कुछ दिल्ली से आए पत्रकारों और शिक्षाविदों, कुछ साक्षरता कार्यक्रम से निकली स्थानीय ग्रामीण महिलाओं से बना हमारा समूह मिला-जुला था। हमने स्थानीय महिलाओं को पत्रकारिता और अखबार छापने की ट्रेनिंग दी। हर एडिशन की पांच से दस महिलाओं की लोकल टीम सब कुछ करती थीः खबरें लाने से लेकर लिखना, संपादन करना, चित्र बनाना, डिजाइन करना, अखबार छपवाने ले जाना, और फिर जिले के गांवों में बेचना। हमने बांदा जिले की बुंदेली में एक संस्करण शुरू किया और धीरे-धीरे इसे छह जिलों तक फैलाया, पांच उत्तर प्रदेश में और एक बिहार में। इन एडिशनों को ग्रांट्स से चलाया जाता था, तो ये अखबार बेचने, विज्ञापन या किसी के सहारे पर निर्भर नहीं थे।

21वीं सदी के दूसरे दशक तक, भारत में चैरिटी फंडिंग के नियम काफी बदल गए। छोटे-बड़े गैर-मुनाफा वाले विकास मॉडलों को ये साबित करना पड़ रहा था कि वे कितने काम के हैं। कितने लोगों तक पहुंचे, कैसे, कितने पैसे में, और क्या रिजल्ट मिला?

खबरों की दुनिया में, डिजिटल प्रोडक्शन और मीडिया की खपत में पहले से ही बड़ा बदलाव आ रहा था, जो इन सारे पैमानों पर गहरा असर डाल रहा था। काम की 'कीमत' अब टीआरपी जैसे मापदंडों के ऐसे बड़े नंबरों से नापी जाने लगी, जो पहले सोचना भी मुश्किल था। उनको साबित करना पड़ रहा था कि उनका काम फंडिंग के लायक है।

[...]

जैसे-जैसे अखबार बंद होने की कगार पर आया, हमें उन मुश्किलों से नजरें मिलानी ही पड़ीं, जिनसे हम लंबे समय से जूझ रहे थे। खबर लहरिया को शुरू से ही ढेर सारे अवॉर्ड मिले। 2004 में ही हमें पत्रकारिता में महिलाओं के लिए चमेली देवी जैन अवॉर्ड मिला और इसके बाद काफी स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार और अवॉर्ड भी मिले। एक आइडिया के तौर पर खबर लहरिया ने लोगों का ध्यान खींचा, चाहे पढ़ने वाले अभी ये नहीं समझ पा रहे थे कि ज्ञान उत्पादन के केन्द्र को बदलने से सामंती समाज को कुछ हद तक बदला जा सकता है। लेकिन दो चीजें नहीं बदलीं।

पहली, हमारे पत्रकारों या उनकी खबरों को वो इज्जत नहीं मिली जो 'मुख्यधारा' के पत्रकारों को मिलती थी। हम किसी बड़ी यूनिवर्सिटी में पत्रकारिता की क्लास में एक केस स्टडी हो सकते थे, लेकिन गेस्ट टीचर नहीं; हम बुंदेलखंड की किसी खबर के लिए जानकारी दे सकते थे, लेकिन पत्रकार नहीं हो सकते थे; हम सूखे खेतों के सामने खींची गई शानदार तस्वीर में दिख सकते थे, लेकिन उसी अखबार में पत्रकार नहीं बन सकते थे। यह समझा जाता था कि हमारी पत्रकारिता में क्वालिटी या काबिलियत की कमी है; हमारी जगह एलीट, बंद दरवाजों वाले समूह के बाहर थी।दूसरी चीज जो नहीं बदली, वह थी हमारे काम का मूल्य। अखबार छपने के बाद उसकी पहुंच और सर्कुलेशन मायने रखता है, और खबर लहरिया का सर्कुलेशन कभी इतना नहीं रहा कि वह अपने खर्चों को सही ठहरा सके। दिन-रात के लंबे प्रोडक्शन की लागत, महंगी छपाई, दूर के इलाकों में जाने का खर्च, और हमारी टीम को जिंदगी भर सपोर्ट करने की लागत, चाहे वह लिखने के लिए हो या उनके बगावती कामों को सपोर्ट करने के लिए। अखबार बेचने से बहुत कम पैसे आते थे, और हमारे सख्त नियमों से गुजरने वाले कुछ विज्ञापनों से और भी कम। ■

ADVERTISEMENT RATE CARD

w.e.f. 1 September 2025

NATIONAL HERALD ON SUNDAY संडे नवजीवन

The AJL Group has two weekly newspapers and three website portals in English, Hindi and Urdu

www.nationalheraldindia.com | www.navjivanindia.com | www.qaumiawaz.com

Commercial Display (w.e.f 1 Sept 2025)

Category of Advertisements (C/BW)	National Herald on Sunday (National Edition)	National Herald on Sunday (Mumbai)	Sunday Navjivan (National Edition)
Full Page (1650 sq.cm)	Rs 10 Lakh	Rs 8 Lakh	Rs 10 Lakh
Half Page (800 sq. cm)	Rs 6 Lakh	Rs 5 Lakh	Rs 6 Lakh
Quarter Page (400 sq. cm)	Rs 4 Lakh	Rs 3 Lakh	Rs 4 Lakh
< Quarter Page (per sq. cm)	Rs 700	Rs 450	Rs 700

PAGE PREMIUM	Display Ads BW/Color	Political Ads BW/Color
Front page	100% Surcharge	200% Surcharge
page (3 & back)	25% Surcharge	100% Surcharge
Specified page	50% Surcharge	50% Surcharge

*Advance payment is needed for all political advertisements.

Classified for festival greetings, anniversary & notices

Full page @ Rs 1,00,000 | Half Page @ 60,000

< 240 sq. cm @ Rs 175 per sq. cm

State Govt Advertisements/ C/BW

@ Rs 525 per sq. cm

The Associated Journals Limited
Herald House, 5A, Bahadur Shah Zafar Marg,
New Delhi 110002
Phone: 011-47636300 - 313
Whatsapp No: 9650400932
Email: advt@nationalheraldindia.com

Online Remittance/Bank Beneficiary Details:
Name: **Associated Journals Limited**
Bank Name: **Canara Bank**
Branch Name: **I P Estate, New Delhi-110002**
C/A No.: **90171010003955;** IFSC Code: **CNRB0019017**
GST No.: **27AAECA1180A1ZB ;** PAN No.: **AAECA1180A**

NOTE: Cheque / DD should be drawn in favor of "Associated Journals Limited" and sent to Herald House, 5-A Bahadur Shah Zafar Marg, New Delhi -110002.

General Terms and Conditions

w.e.f. 1 September 2025

National Herald on Sunday (Delhi & Mumbai) and Sunday Navjivan

1. All advertisements are published in Edition(s) of the paper and charges are payable strictly in advance of publication by Bank Draft or Bank Transfer (RTGS) and /or cheques only except in the case of advertising agencies accredited to INS.

2. Advertisements are accepted for publication on top of advertisements positions on an additional charge of 25%. No advertisement is however published on top of news-matter.Top of column position cannot be guaranteed even on payment of additional charge of 25%.

3. Extra charges for top of column position are calculated on the total amount payable inclusive of amount payable for specified pages.

4. Every reasonable effort is made to publish an advertisement on the date(s) specified by an advertiser. The Management however reserves the right to vary the date or the scheduled date(s) of publication, with or without notice to the advertiser, owing to the exigencies of availability of spaces.

5. The management reserves the right to refuse, suspend or stop, in its discretion, publication of any advertisement without assigning any reasons.

6. While every endeavour will be made by the Management to avoid publication of competitive advertisements in close proximity to one another, no guarantee can be given in this respect nor will the claims be entertained for free insertions in the event of announcements of rival product appearing on the same page.

7. The placing of an order by an Advertiser/Advertising Agency constitutes a warranty by the Advertiser/Advertising Agency to the Associate Joumals Limited Management that the Advertiser/ Advertising Agency has secured the necessary authority and permission in respect of the use in the advertisement or advertisements of pictorial representation of (or purporting to be of) living persons and all references to words attributing to living persons.

8. The advertisements will be charged at the rate applicable on the day of publication of the advertisement irrespective of the date of booking, date of release order and whether the advertisement is part of any package/scheme.

9. Standing instructions are accepted over Whatsapp or email. However verbal instructions must be clear and specific. Quoting reference of the previous release order and/or new scheduled dates of insertions in respect of which the instructions are given. These instructions should be given afresh either through Whatsapp/email and/or Landline phone.

10 Booking of space for premium positions in all The Associated Journals Limited publications will be confirmed only upon receipt of original releaseorder. Fax/Scanned copies, Emails will be entertained for the same.

11. "Reader" advertisements are accepted but will be distinguished from 'news matter' by a rule around the advertisement matter and expression 'advt' will be added at bottom.

12. Solus/Semi Solus positions cannot be guaranteed on the front page.

13. Cancellation charges @20% of the total cost of the front/Full page advertisement shall be levied if a cancellation of booking is made two days before the scheduled date of publication. Cancellation charges @35% of the total cost of the full front-page advertisement shall be levied if the cancellation of a booking of front/full page advertisement is made one day before the scheduled date of the publication.

14. In the event of printing mistake, omission or non-publication of advertisement, the advertising agencies shall have to furnish the instructionson behalf of their client for republication. In the event of a dispute the liability of Management shall be restricted to the amount received against sale of spaces for the advertisement received. All disputes /claims regarding advertisement /complaints must be made within a period of one month of publication date after which no claim will be entertained.

15. The Management shall not be responsible for any loss or damage caused by an error or inaccuracy in the printing of/or omission in inserting advertisements.

16. In case of dispute, the agency shall not be entitled to invoke any condition suggestive of existence of an arbitration agreement unless specifically agreed to by the Management.

17. No deduction is allowed from bills raised against publication of advertisement(s) on account of any defective insertion(s). Any claims in these respects, if admitted, will be met by publishing a corrigendum/ free insertion or the like, depending upon the merits of the claim vis-a-vis the error in publishing the advertisement(s) or other materials. Claims for refund or for compensation, if admitted, shall be restricted to the charges for advertisement received by Management. The decision of the management shall be final in this regard.

18. The advertisements released by Government/Semi Government/ Undertakings/Autonomous body are published in classified display column only at commercial rates irrespective of the number of words.

19. The advertising agencies releasing an advertisement on behalf of its client shall be deemed to have undertaken to keep the management indemnified in respect of costs, damages or other charges incurred by the Management as a result of any legal action or threatened legal action arising from and in relation to publication of any advertisement published in accordance with the release order and the copy of instructions supplied by the agency.

20. The agency shall bring to the notice of its clients these General Terms and it shall not be open to any of its clients to plead/claim or aver ignorance of these General Terms which apply to every transaction of sale of space in particular issue(s) of any of publications of The Associated Joumals Limited.

21. No agency commission is payable on the on the classified advertisements chargeable at DAVP rates.

22. Fraction of centimetre in excess of the scheduled size shall be charged as full centimetre if the advertisement exceeds the scheduled size. If the material supplied is shorter than the scheduled size, the advertisement will be charged for the size scheduled and not for theactual space occupied or consumed by the advertisement on the basis of the short size material so supplied.

23. The Management shall not be bound by notice of stoporders, cancellations, preponements/postponements or alterations/deletions/ additions in the material(s) of advertisement(s) booked for publication in special or specified position if received less than one week prior to dates of insertion. For ordinary advertisement, the stoppage or not of cancellation must reach at least four days before the scheduled date of publication of advertisement.

24. The Management reserves the rights to revise the rates and terms and conditions without any notice.

25. Every Advertiser/Advertising Agency acknowledges having read and accepted these Terms and Conditions.

26. Courts only in New Delhi, shall have the jurisdiction to entertain and decide all disputes and claims, arising out of publication of any advertisement in the Associate Journals limited publications.

27. The Management shall be at liberty to refuse to carry advertisements/ adjust amounts paid for subsequent ads against pre-existing liabilities, even without carrying such subsequent advertisement.

28. Advertising party hereby agrees to indemnify, defend and hold harmless AJL, it's directors, officers, shareholders and agents against any and all third party claims arising out of or in connection with the content or placement of the advertisement, and to the fullest extent.

29. In no event shall AJL be liable hereunder for any indirect, incidental, special, consequential, punitive or exemplary damages or losses in connection with these terms even if advised in advance of the possibility of arising of such liability, damages or losses.

30. In no event shall AJL's aggregate liability exceed Rs. 10,000 to any advertising party.

Published Date 24 May, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

कबीरपंथी बुनकरों की झीनी-बीनी चदरिया

मध्य प्रदेश में डिंडौरी जिले के सरवाही माल गांव में कबीरपंथी पनिका समुदाय के सदस्य तमाम मुश्किलों के बावजूद अपनी पारंपरिक बुनाई बचाने की कोशिश में हैं

किरण अडमाचे

चदरिया झीनी रे झीनी, चदरिया झीनी रे झीनी
राम नाम रस भीनी, चदरिया झीनी रे झीनी
आठ कंवल का चरखा बनाया, पांच तत्व की पूनी
नौ दस मास बुनन को लागे, मूरख मैली कीनी
चदरिया झीनी रे झीनी

नेहरू दास जी की उंगलियों में एक नजाकत और बेदाग तालमेल है, जो हारमोनियम के कीबोर्ड पर चलते हुए सुरों और भावनाओं की एक जटिल बुनावट रचती हैं। उन्हें गाते हुए देखना उस कल्पना को आसान बना देता है कि कभी यही उंगलियां उनके पिट लूम (करघे) पर कैसे नाची होंगी। हालांकि, अब उनके लिए बुनाई की तुलना में गाना अधिक स्वाभाविक और सहज हो चुका है। उन्होंने यह विरासत अब अपने दोनों बेटों को सौंप दी है। फिर भी, वह हमें अपने गीत और अपने काम के बीच के संबंध को दिखाने के लिए उत्सुक दिखते हैं।

70 वर्षीय नेहरू दास बघेल खुद को बैगाचक का सबसे बुज़ुर्ग बुनकर बताते हैं। कहते हैं, "जिस तरह भगवान इस शरीर को बुनने में समय लेते हैं, मां के गर्भ में शिशु को जन्म लेने में नौ महीने लगते हैं। हमारे कबीर साहब इसी बात को और कपड़ा बुनने की प्रक्रिया को आपस में जोड़कर इस संसार की सच्चाई समझाते हैं।"

डिंडौरी जिले के भीतर 52 गांवों का यह क्षेत्र है, जिसमें उनका अपना गांव सरवाही भी शामिल है, और यहां अधिकतर आबादी आदिवासियों की है। जिस पनिका समुदाय से यह अनुभवी बुनकर संबंधित हैं, उसे मध्य प्रदेश में हर जगह एक समान श्रेणी में सूचीबद्ध नहीं किया गया है। डिंडौरी जिले में इसे अनुसूचित जनजाति के बजाय अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) में रखा गया है। फिर भी, सदियों से पनिका समुदाय ने जिले की 64 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति आबादी के साथ आपसी निर्भरता और सौहार्द के साथ जीवन बिताया है। यहां पनिका लोग अपने पारंपरिक पेशे, बुनाई, को अपनाते हैं।

नेहरू दास जी कहते हैं, "हम पीढ़ियों से बुनाई करते आ रहे हैं। इसको ही बुनेंगे, और हमारे दादा-दादी जो थे वो भी इसको ही बुन-बुनकर हमको पोसे हैं और उनके जाने के बाद, हम भी हमारे बच्चों को इससे ही पोसे हैं, और यही काम करके हमारे बच्चे हमको पाल रहे हैं।"

मैकाल पर्वतमाला के घने जंगलों के बीच बसा बैगाचक मुख्य रूप से बैगा आदिवासियों का निवास स्थान है, जो पहाड़ियों पर रहते हैं और बेवर खेती (झूम खेती का एक प्रकार) करते हैं। यहां गोंड आदिवासी भी हैं, जो नियमित तौर पर खेती करते हैं; अघरिया समुदाय है, जो लौह-गलन (लोहे को पिघलाने) का काम करता है; और यहां के अहीर पशुपालन करते हैं। पर्वत की तलहटी में रहने वाले पनिका लोग पारंपरिक रूप से बुनकर रहे हैं, जो इस क्षेत्र की बहुसंख्यक बैगा आबादी को कपड़े और वस्त्र उपलब्ध कराते हैं, जिन्हें राज्य में विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूह के रूप सूचीबद्ध किया गया है।

लगभग एक दशक पहले के अपने जीवन को याद करते हुए नेहरू दास जी कहते हैं, "उन दिनों हम वैसे ही कपड़े बुनते थे जैसे बैगा लोग हमसे बनाने को कहते। समुदाय के पुरुष और महिलाएं, दोनों ही हमारे बनाए वस्त्र पहनते थे। पुरुष जहां 'बंडी' जैकेट बनवाते, वहीं महिलाएं बगरा, मुंगी, चाकधरिया की मांग करती थीं।" वे बुनाई के पैटर्न के आधार पर बैगा साड़ियों के प्रकारों के नाम गिना रहे हैं। पनिका लोग उन साड़ियों के बदले अनाज या अन्य आवश्यक वस्तुएं लिया करते थे।

वह कहते हैं, "हमारा और बैगा लोगों का रिश्ता शुरू से ही रहा है, जबसे यह सृष्टि बनी है। उन दिनों, जब भी हम कपड़ा बेचने बाजार जाते थे, पूरा माल 10 मिनट में ही बिक जाता था। यहां तक कि बैगा लोग अपनेआप को ढकने के लिए जो चादर इस्तेमाल करते थे, वे भी हम ही बनाते थे।"

गांव में स्व-शासन की एक मजबूत व्यवस्था (नार व्यवस्था) और "स्वशासन" की अवधारणा मौजूद थी। इस दृष्टिकोण में प्रकृति की हर चीज और लोगों का जीवन एक-दूसरे से जुड़ा हुआ माना जाता था। किसी एक पर पड़ने वाला नकारात्मक प्रभाव सबको प्रभावित करता था। नेहरू दास जी के विस्तारित परिवार के सदस्य और 50 से ज्यादा की उम्र के सुनील दास कहते हैं, "गांव का मुखिया 'मुक्कदम' होता था। उस समय गांव के समाज में कोई ऊंच-नीच नहीं थी। लेकिन अब चीजें बहुत बदल गई हैं।"

सभी फोटो: सुनील दास

सरकारी योजना के तहत सब्सिडी दर पर प्राप्त और पारंपरिक पिट लूम की जगह ले चुके फ्रेम लूम पर काम करते सुनील दास। (इनसेट) मध्य प्रदेश के बैगाचक के सबसे बुज़ुर्ग बुनकर नेहरू दास कबीरपंथी

सब मिलकर काम करते हैं, सबकी अपनी-अपनी भूमिकाएं हैं। पनिका समुदाय की महिलाएं धागा तैयार करने में मदद करती हैं और रंग-बिरंगे धागों की रील तैयार करती हैं

नेहरू दास दृढ़ आवाज में कहते हैं- "कबीर साहब हमारे लिए भगवान के समान हैं। यह काम उनकी ही कृपा है। अगर लोग हमारी बनाई साड़ियां पहनना बंद भी कर दें, तो हम अपने लिए बुनेंगे। लेकिन हम बुनाई करना नहीं छोड़ेंगे"

पारंपरिक बुनाई को आगे बढ़ाने में अब कम लोग रुचि ले रहे हैं। दिहाड़ी मजदूरी में ज्यादा पैसे मिलते हैं। सुनील दास जी कहते हैं, "बुनाई भी बहुत मेहनत का काम है। यह पूरी तरह हाथ का काम है और इसमें समय बहुत लगता है। अगर एक परिवार के दो-तीन लोग मिलकर दो दिन में एक साड़ी बुनते हैं, और उसे 2,000 से 2,300 रुपये में बेचते हैं, तो हम अपनी मेहनत की लागत भी कैसे निकाल पाएंगे? आप ही बताइए, हम कैसे गुजारा करेंगे?"

नेहरू दास जी की कमजोर होती नजर और बढ़ती उम्र ने अब उनके और उनकी पत्नी के लिए बुनाई को एक चुनौती बना दिया है। सुनील दास के चाचा गंगू दास जैसे कई लोग अब पारंपरिक साड़ियों के अलावा अन्य वस्तुएं भी बनाने लगे हैं। सुनील दास कहते हैं, "वे अपने ग्राहकों की मांग के अनुसार कुर्ता, पायजामा और अन्य तरह की सूती साड़ियां बनाते हैं, ताकि थोड़ा अधिक कमा सकें। बैगा लोग अब पहले की तरह साड़ियां नहीं पहनते, इसलिए यह पारंपरिक कला प्रभावित हो रही है।"

सरकार ने इलाके में पारंपरिक पिट लूम करघे की जगह फ्रेम लूम को बढ़ावा देने की कोशिश की है। सुनील दास बताते हैं, "नए करघों के साथ हम तीन लोग मिलकर एक महीने में 15 से 20 साड़ियां बना सकते हैं, जबकि पिट लूम पर हम एक महीने में केवल दो-तीन साड़ियां ही बुन पाते हैं। सरकार हमें करघा उपलब्ध कराती है और प्रशिक्षण भी देती है।" हालांकि, तीन लोगों के लिए महीने के 30,000 रुपये, शहर में निर्माण मजदूरी करके कमाए जाने वाले पैसों का केवल एक-तिहाई ही है।

गंगू दास कहते हैं, "आजीविका योजना के तहत हमें सरकार की तर से हर छह महीने में 10,000 रुपये मिलते हैं। वे सूत, करघा और बाजार तक पहुंच में भी मदद करते हैं। लेकिन इसके बावजूद हम बुनाई से पर्याप्त कमाई नहीं कर पाते। हमें इनसे खास फायदा नहीं होता।" पारंपरिक बुनाई को बाहरी दुनिया तक पहुंचाने की कोशिश करने वाले गंगू दास जी ने कई सरकारी प्रदर्शनियों में भी अपना स्टॉल लगाया है।

सुनील दास सोचते हैं कि आगे का रास्ता किसी सरकारी वस्त्र (टेक्सटाइल) कॉलेज के माध्यम से निकल सकता है। उनके चार बच्चे हैं। उनकी एक अविवाहित बेटी कॉलेज में पढ़ती है और बेटा कक्षा 11 में है। उनका सपना है कि उसे किसी ऐसे कॉलेज में भेज सकें जहां वह बुनाई की नई तकनीक सीख सके, और जो आगे चलकर उनके पारिवारिक व्यवसाय को आगे बढ़ाने में मददगार साबित हो।

"कबीर साहब हमारे लिए भगवान के समान हैं। यह काम उनकी ही कृपा है"- नेहरू दास जी की आवाज में दृढ़ता बहुत साफ झलकती है: "यह हमारे माता-पिता और पूर्वजों पर उनकी ही कृपा है कि हम यह काम कर रहे हैं और करते रहेंगे। अगर लोग हमारी बनाई साड़ियां पहनना बंद भी कर दें, तो हम अपने लिए बुनेंगे। लेकिन हम बुनाई करना नहीं छोड़ेंगे।" ■

साभार: ruralindiaonline.org

Nehru centre

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर
मुंबई के हृदयस्थल में,
बीकेसी से सटे,
एयरपोर्ट के पास

इन सबके लिए सर्वोत्तम:
- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशंस
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है
-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे

बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258
या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com
नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051